

COMPILED

मुद्राला देवी

८९०
सुटसं

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

पुस्तकालय



ट १० ५६२
विषय संख्या सु ट सं आ० सं०

लेखक सुशीला देवी

आख्या संस्कृत कवि यों का वाणी विलास

पुस्तकालय

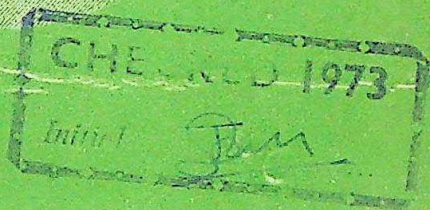
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

2 JAN 1981

५८२/५

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

संस्कृत कवियों का वाणी-विलास



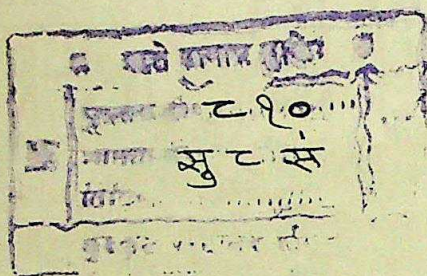
मुशीला देवी विद्यार्थी
विद्यालङ्कृता, साहित्यरत्न

[द्वितीय बार—१९६७]

मूल्य रु० १.२५ पै०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar.

मुद्रकः—हिन्दुस्तान प्रिंटिंग प्रेस, रामपुर, उ० प्र०



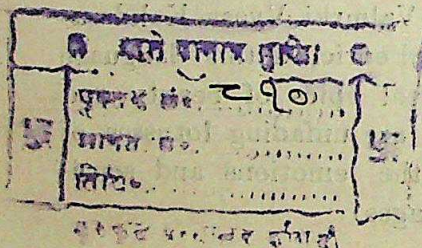
FOREWORD

Sanskrit is the oldest of the classical languages. Other classical languages drew inspiration from Sanskrit. Oldest books of the world are now perhaps found in Sanskrit. Right from the Vedic time, it was the language of the scholars all over India. It found many royal patrons and some of them were themselves scholars and poets. Wisdom of the ages found expression in this classical medium and came to us through all these ages. Indian concept of God, the Universe and Soul is elaborately discussed in Vedas and Upanishads. The fountain head of Hindu Dharma can be found in this language. It has attained such sanctity about it that it is commonly known as Deva Bhasha. It is the Mother of all Indian languages.

Eminent poets like Valmiki, Vyasa, Kalidasa, and Bhavabhoothi had enriched this language and left behind immortal epics of beauty and grandeur, they in fact are unfading lotuses of beauty, appealing to the emotions and sentiments of all times and ages.

Shrimathi Sushila Devi who took her title "Vidyalankritha" from Gurukul University, is a keen student of Sanskrit. All in a few pages in Hindi, she has given salient points of all master poets, with a few illustrations. The Book is written in elegant Hindi and is equally useful to pandits and laymen. I have gone through the book and found it very interesting. I am grateful to Shrimati. Sushila Devi for her invitation to write a foreword to her "Sanskrit Kaviyon Ka Vani Vilas," which I gladly do after reading the book.

After independence, there is revival of interest in Sanskrit. Many schools and colleges and even Universities are being founded to impart Sanskrit, which is the backbone of Modern languages, I recommend this book to all lovers of Sanskrit.



B. GOPAL REDDY
Minister for Revenue
and Civil Expenditure,
Government of India

भूमिका

संस्कृत संसार की सब भाषाओं में प्राचीनतम है। अन्य सब भाषायें संस्कृत से ही प्रेरणा व मार्गदर्शन प्राप्त करती हैं। संसार की प्राचीन से प्राचीन पुस्तकें भी संस्कृत में प्राप्त हो सकती हैं। वैदिक काल से ही संस्कृत विद्वानों व पण्डितों की भाषा रही है। समय समय पर इसे अनेकों उच्च कोटि के राजाओं का भी आश्रय व आशीर्वाद प्राप्त होता रहा है। अनेकों राजा, रईस स्वयं भी अपने वाणी विलास से संस्कृत साहित्य की श्रीवृद्धि करते रहे हैं। युगों युगों से पण्डितों और विद्वानों ने अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिये संस्कृत को ही अपना माध्यम बनाया। संस्कृत वाङ्मय की यह धारा आज तक अजस्र रूप से इसी प्रकार प्रवाहित होती आरही है।

भारत के ईश्वर सम्बन्धी विचार, आत्मा, परमात्मा, विश्व प्रकृति सभी के सम्बन्ध में वेदों और उपनिषदों में विस्तृत रूप से प्रकाश डाला गया है, या यों कहिये कि हिन्दु धर्म का आदिस्त्रोत ही संस्कृत है। संस्कृत के लिए जनता के हृदय में इतना गौरव था कि इसे 'देवभाषा' के पुण्यनाम से संबोधित किया जाता था। संस्कृत सब भारतीय भाषाओं की जननी है।

वाल्मीकि, व्यास, कालिदास तथा भवभूति जैसे अमर कवियों ने अपनी अमर कविता कला द्वारा संस्कृत साहित्य के भण्डार को भरा है। उनके रामायण महाभारत, जैसे अमर महाकाव्य अपनी भाव गंभीरता और रस-स्निग्धता द्वारा किसे आकर्षित नहीं करते? वे ऐसे कमल हैं जो सदा बहार हैं।

जिनकी सुगन्धि व सौंदर्य प्रतियुग और प्रतिकाल में जनता के मानस को आन्दोलित करता रहा है।

श्रीमती सुशीला देवी जिन्होंने अपनी विद्यालकृता की उपाधि गुरुकुल युनिवर्सिटी से प्राप्त की है, आप संस्कृत साहित्य की सुयोग्य छात्रा हैं। आपने संस्कृत साहित्य का गंभीर अध्ययन किया है। इतने थोड़े से पृष्ठों में आपने संस्कृत के सभी दिग्गज (प्रमुख) कवियों के वाणी विलास की इतनी सुन्दर व हृदयस्पर्शी भाँकी दिलाई है कि देखते ही बनता है।

पुस्तक धारा प्रवाह हिन्दी में लिखी गई है यह पाण्डितों और सर्वसाधारण दोनों के लिये समान रूप से उपयोगी है। मैंने सारी पुस्तक पढ़ी है मुझे यह बात बहुत ही रोचक प्रतीत हुई।

मैं श्रीमती सुशीला देवी का अनुगृहीत हूँ जिन्होंने मुझे 'संस्कृत कवियों का वाणी विलास' की भूमिका लिखने का आग्रह किया है। पुस्तक पढ़ने के पश्चात् मैंने सहर्ष इसकी भूमिका लिखना स्वीकार कर लिया।

भारत की स्वतंत्रता मिलने के बाद जनता के हृदय में संस्कृत के प्रति आकर्षण पैदा होता जा रहा है। कई स्कूल कालेज और विश्वविद्यालय संस्कृत को अपने शिक्षण का अंग बनाते जा रहे हैं। संस्कृत आधुनिक भारतीय भाषाओं की आधार-शिला है।

मैं चाहता हूँ कि सभी संस्कृत प्रेमी इस पुस्तक का रसास्वादन करें।

बी गोपाल रेड्डी

मिनिस्टर आफ रेवेन्यू
एण्ड सिविल एक्सपैण्डीचर
भारत सरकार

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
॥ ओ३म ॥

संस्कृत कवियों का वाणी-विलास

स्तुवन्ति गुर्वीमभिधेय संपदम्,
विशुद्धिमुक्तेरपरे विपश्चितः ।
इति स्थितायां प्रति पूरुषं रुचौ,
सुदुर्लभाः सर्व मनोरमा गिरः ॥

कई विद्वान् अर्थ-गौरव को ही कविता का प्राण कहते हैं और कई उक्तवैचित्र्य को । कई 'काव्यं रसात्मकं वाक्य' की स्थापना कर सकल रस सृष्टि में ही कवि का चरमोत्कर्ष मानते हैं । हर व्यक्ति की रुचि अलग है । अतः सबका समान रूप से मनोरंजन करने वाली वाणी का मिलना दुर्लभ सा ही है किन्तु संस्कृत साहित्य की बात ही निराली है । वस्तुतः संस्कृत साहित्य का वाणी-विलास स्पृहणीय विषय है । यहाँ शब्द सौष्ठव, भाव गाभीर्य, रसलालित्य, उक्ति-वैचित्र्य, अभिधा, लक्षणा व्यंजना के विविध प्रयोग सभी कुछ प्राप्त किया जा सकता है । संस्कृत साहित्य के काव्योद्यान में कहीं कवि-कुल-गुरु कालीदास की सरस व हृदयस्पर्शी उपमाओं की बहार है तो कहीं कवीश्वर दण्डी की कोमलकान्त पदावली की कमनीयता अपनी छटा दिखा रही है । कहीं भारवि का अर्थ गौरव मस्तिष्क को चिन्तन की सामग्री देता है तो कहीं नैषध के यमक और श्लेष अन्तस्तल में कौतूहल को सृष्टि करते हैं । कादम्बरी की समासपंक्ति, स्वप्न वासवदत्तम् और मालविकाग्निमित्रम्

के आकर्षक वसन्त वर्णन, मुद्राराक्षस का सफल चरित्र चित्रण, भवभूति की करुण-रस सृष्टि सब ही तो संस्कृत-साहित्य की श्रीवृद्धि कर रहे हैं। प्रभु की सृष्टि में तो छः रस पाये जाते हैं पर यहाँ तो नव रस की तरंगिणी प्रवाहित होकर सारे संस्कृत साहित्य का रसस्निग्ध कर रही है। तरह तरह के फूलों की मन्द २ सुगन्ध से सारा साहित्योद्यान सुरभित हो रहा है। आइये हम भी उसका रसास्वादन करें :—

प्राचीन भारत काव्य और शास्त्रों के विनोद का बड़ा प्रेमी था। बड़े बड़े राजा, रईस, सामन्त भी अपना समय साहित्य चर्चाओं में व्यतीत करना अपने लिये गौरव का विषय समझते थे। विशेष उद्यान यात्रायें सरस्वती भवन, मेले तथा अन्य अनेक उत्सव काव्यशास्त्र विनोदों के लिये उचित अवसर समझे जाते थे। राजाओं की ओर से तो कवियों को सदा ही आश्रय प्राप्त होता था। राजा लोग भाषा और काव्य की सौन्दर्य रक्षा के लिये इतने उत्सुक रहते थे परिवारों में बोली जाने वाली भाषा में कर्णकटु प्रयोग न आने पावे इसका पूर्ण ध्यान रखा जाता था। कहते हैं मगध में राजा शिशुनाग ने यह नियम बना दिया था कि उनके रतिवास में ट ठ ड ढ ऋ, ष, स ह इन आठ वर्गों का उच्चारण कोई न करे। कवियों में स्वस्थ प्रतिस्पर्धा होती थी जो उनको आगे बढ़ने की सदा प्रेरणा देती थी। उच्च कोटि की कविता के लिये तो सतत साधना की जाती थी। नया कवि तो ऐसे समारोहों में बहुत कठिनाई में पड़ जाता है। इस नये कवि पर संस्कृत का एक कवि क्या ही सुन्दर रूपक बाँधता है :—

नाहूतापि पुरः पदं रचयति प्राप्तोपकण्ठं हठात् ।

पृष्ठा न प्रतिवक्ति कम्पमयते स्तम्भं समालम्बते ।

वैवर्ण्यं स्वरभङ्गमञ्ज्वलि बलान्मंदाक्ष मंदानना,
कण्ठभोः प्रतिभावतोऽभिसमं वाणी नवोदायते ॥

यहाँ कवि की वाणी की नव-विवाहित वधु से उपमा दी गई है। कवि कहता है जैसे नव वधू बार बार बुलाने पर भी शर्म के करण सामने नहीं आती, पूछे जाने पर भी बोलती नहीं, पति से सामना होने पर संकोच वश उसके हाथ पाँव काँपने लगते हैं, मुख का रंग घबराहट के कारण पीला पड़ जाता है, आवाज लड़खड़ाने लगती है, गला रुंध जाता है, ऐसे ही सभा सोसायटी में कविता पाठ करने पर नव कवि की वाणी की स्थिति हो जाती है।

राज्यमभा में प्रतिष्ठा पाना भी एक कला है। सभी काँव 'रस सिद्धाः कवीश्वराः' तो नहीं बन सकते। सभी में मेघदूत या अभिज्ञान शाकुन्तल से काव्य लिखने की क्षमता नहीं हो सकती। ऐसे समय में उक्ति वैचित्र्य भी बड़ा काम देता है। आचार्य दण्डी लिखते हैं कवित्व शक्ति क्षीण हो तो भी वक्रोक्ति या व्यंजना के द्वारा कवि अपना स्थान बना सकते हैं शायद इसी लिये संस्कृत साहित्य में उक्ति वैचित्र्य की छटा सर्वत्र पाई जा सकती है। सती पार्वती और शंकर का संवाद है—

कस्त्वं ? शूली, मृगयभिषजं, नीलकण्ठः प्रियेऽह,
केकामेकां वद पशुपतिनैर्व दृश्ये विषाणे ।
मुग्धे स्थाणु स चरति कथं, जीवितेशः प्रियायाः,
गच्छाटव्यामिति हतवचः पातु वश्चन्द्र चूडः ॥

सती पार्वती पूछती है तुम कौन हो ? शिवजी ने कहा शूली (मैं शूलधारी शंकर) हूँ। पार्वती ने कहा अगर शूली—शूल रोग

से पीड़ित हो तो बैद्य के पास जाओ। शिवजी ने कहा नहीं प्रिये मैं नीलकण्ठ हूँ। पार्वती कहती हैं यदि नील कण्ठ (मयूर) हो तो केका वाणी को उच्चारण करो। शिवजी ने कहा मैं पशुपति हूँ। यदि पशुपति-वृषभ-चैल हो तो सींग कहाँ हैं ? हे मुग्धे ! मैं स्थाणु-स्तम्भ हूँ। स्थाणु हो तो चलते कैसे हो ? प्रिय मैं शिवा का पति हूँ। शिवा शृगाली के पति हो तो जंगल में जाओ यहाँ तुम्हारा क्या काम है ? इस प्रकार पार्वती जी के द्वारा निरुत्तर हुये शिवजी हम सबकी रक्षा करें।

यहाँ अर्थ श्लेष पर्याप्त आकर्षक हैं जिससे कवि की प्रतिभा प्रतिभासित हो रही है।

(राधा) श्री लक्ष्मी जी के साथ अपने कमरे का दरवाजा बन्द करके बैठी है। श्री विष्णु (श्रीकृष्ण) ने आकर दरवाजा खटखटाया राधा पूछती है :—

अंगुल्यां कः कपाटे प्रहरति, कुटिलो ? माधवः ?

किं वसन्तः ?

नो चक्री, किं कुलालो ? नहि धरणिधरः किं

फणीन्द्रो द्विजिह्व ?

मुग्धे घोराहिमाथी, किमुत खगपतिर्नो हरिः किं

कपीन्द्रः ?

इत्थं लक्ष्म्या कृतो ऽसौ प्रतिहतवचनः पातु लक्ष्मी

धवनः ॥

कौन कुटिल है जो अंगुलियों से किवाड़ खटखटा रहा है ? उत्तर मिला माधव । क्या माधव (वसन्त) है । नहीं चक्रपाणि । क्या चक्रधारी कुम्हार हो ? नहीं धरणीधर हूँ । क्या पृथ्वी का

धारण करने वाले नागराज सर्प हो ? नहीं मुग्धे ! मैं कालयमन सर्प का मथन करने वाला कृष्ण हूँ । क्या सर्पारि गरुड़ हो ? नहीं हरि । क्या बन्दर हो ? इस प्रकार राधा (लक्ष्मी जी) से निरुत्तर हुये श्री कृष्ण (विष्णु जी) हमारी रक्षा करें ।

इस सम्वादों में कितना भाव गौर्भर्य है । शब्द विन्यास तो बहुत ही आकर्षक है । शब्द प्रयोग से वादी प्रतिवादी को मात देता है ।

एक निर्धन कवि लक्ष्मी जी से प्रार्थना करते हैं :—

निद्राति, स्नाति, भुङ्क्ते, चलति कचभर,

शोषयत्यन्तरास्ते ।

दीव्यत्यक्षैर्न चायं गदितुमवसरो

भूय आयाहि याहि ।

इत्युद्दण्डैः प्रभूणामसकृदधिकृतै—

वारितान् द्वारि दीना—

नस्मान् पश्याब्धिकन्ये ! सरसिरुह रुचा—

मन्तरंगैरपाङ्गैः ॥

अभी वे सो रहे हैं, इस समय स्नान कर रहे हैं, यह भोजन का समय है, अब टहलते हैं, अब केश सुखा रहे हैं, इस समय अन्तःपुर में हैं, अभी वे खेल रहे हैं, यह समय भेंट करने का नहीं, जाओ फिर कभी आना, इस प्रकार धनवानों के द्वार से उनके उद्दण्ड अधिकारियों द्वारा बार बार निकाले गये हम दीन निर्धनी जनों की ओर हे देवी लक्ष्मी ! अपने कमल कोमल कटाक्षों से एक बार तो देख लेती !

लक्ष्मी पतियों का निर्धनों के प्रति क्या उपेक्षाजनक व्यवहार होता है इसका कितना सच्चा व स्वाभाविक चित्रण है इसका

भुक्तभोगी ही अनुभव कर सकते हैं ।

एक कवि ने किसी राजा से अपनी दीनता का वर्णन करके राजा से सहायता लेने की इच्छा की । पर मन में वह डरा कि कहीं मैं सभा से धक्का देकर न निकाल दिया जाऊँ । इस लिये वह अपनी गरीबी का इतने चमत्कारिक ढंग से वर्णन करता है कि देखते ही बनता है:—

शूली जातः कदनवशाद्भैक्ष योगात् कपाली ।

वस्त्राभावाद्गगन वसनः, स्नेह शून्याज्जटावान् ।

इत्थं राजन् तव परिचयादीशत्वमवाप्तम्

तस्मान्मह्यं किमिति कृपया नार्धचन्द्रं ददासि ॥

बुरा अन्न खाने से मैं शूली (शूलरोगी और त्रिशूलधारी) हो गया हूँ, भिक्षा माँगने से कपाली (कपालधारी भिक्षुक और कपाली-शिव) हो गया हूँ । पहनने के लिये वस्त्र न होने से दिगम्बर हो गया हूँ । स्नेह-तेल न मिलने के कारण जटाधारी भी बन गया हूँ इस प्रकार हे राजन् ! तेरे परिचय से मुझे ईश्वरत्व शिवत्व तो प्रायः प्राप्त हो गया है केवल एक कमी है अर्धचन्द्र की । (संस्कृत में अर्धचन्द्र धक्का देने के लिये भी प्रयोग में आता है) यदि वह भी आपकी बदौलत मिल जाये मुझे तो मैं पूरा ही ईश्वर बन जाऊँ ।

कहते हैं उसकी इस वाक्चातुरी पर प्रसन्न होकर राजा ने उसे बहुत सा धन दौलत पुरस्कार रूप दिया ।

एक दण्डी पण्डित घूमते घामते सिंहल पहुँचे । वहाँ के राजा ने उन्हें इतना धन दिया कि उसके अभाव आभियोग दूर हो गये । इस पर राजा की प्रशंसा करते हुये पण्डित कहते हैं :—

यो गंगामतरत्तथैव यमुनां यो नर्मदां शर्मदां,

कोवार्तासरिदम्बुलङ्घन विधौ यस्तीर्णवानर्णवान् ।
 सोऽस्माकं चिरमास्थितोऽपि सहसा दारिद्रनामा
 सखा ।

त्वदानाम्बु सरित् प्रवाह लहरीमग्नो न संभाव्यते ॥

जो हमारे साथ गंगा भी उतर आया, यमुना भी उतर आया । कल्याणकारी नर्मदा को भी पार कर आया, नदियों की तो बात ही क्या, समुद्र तक को भी जिसने लांघ लिया, हमारा वही प्रिय साथी दारिद्र्य आज आपके दान जल की सरिता के प्रवाह में डूब गया ! अब उसका कहीं पता नहीं चलता ।

तात्पर्य यह कि मैं गंगा यमुना नर्मदा और अनेकों समुद्र के देशों में धूमा पर मेरी दरिद्रता दूर न हो सकी आज आपके दान ने मेरी उस दरिद्रता को दूर किया है । राजा के दान की प्रशंसा कितनी चतुराई से की गई है ।

काश्मीर के प्रसिद्ध कवि मङ्गक ने श्रीकण्ठ चरित्र काव्य की रचना की तो सोचा कि इसे पण्डितों की सभा में सुनाया जाय । पण्डित बैठे थे । कन्नौज के राजा गाविन्द चन्द्र के दूत भी वहाँ उपस्थित थे । नाम था सुहल । उन्होंने उसे समस्या दी:—

एतद् वम्बु कचानुकारिकिरणं, राजद्रुहोऽहः शिरः—

छेदाभ वियतः प्रतीचि निपतत्यब्धौ रवेर्ममण्डलम् ॥

अर्थ है कि नेवले के अथवा पीताभ वालों के सदृश पीली किरणों का प्रकट करता हुआ सूर्य का यह विम्ब चन्द्रमा का द्रोह करने वाले दिन के कटे हुये सिर के समान आकाश से पश्चिम समुद्र में गिरता है ।

यहाँ राज शब्द दो अर्थों वाला है। एक चन्द्रमा और दूसरा राजा। चन्द्रमा और दिन की दुश्मनी तो प्रसिद्ध ही है। राजा का द्रोह करने वाले का शिरच्छेद होना भी निश्चित है यही इस समस्या में चमत्कार है। इसकी पूर्ति भी कवि मञ्जुक ने उतनी चमत्कारिक करके पण्डितों की उस सभा में अपनी योग्यता का सिक्का जमा लिया। आपने कहा :—

एवापि द्युरमा प्रियानुगमनं प्रोदाम काष्ठोत्थिते ।

संध्याग्नौ विरचय्य तारकमिषाज्जातास्थिशेषस्थितिः ॥

अर्थात् दिशाओं में उत्पन्न हुई संध्या रूपी प्रचण्ड अग्नि में अपने प्रियतम का अनुगमन करके आकाश मण्डल की यह शोभा भी ताराओं के बहाने अस्थिशेष हो गई। यहां काष्ठा शब्द के दो अर्थ हैं। दिशा और लकड़ी। दोनों के साथ उत्थिते शब्द मिलाने से काष्ठोत्थिते यह एक रूप ही बनता है। सायं काल जब सूर्यास्त होता है तब पश्चिम दिशा अग्नि के समान लाल हो जाती है। मञ्जुक कहता है जब दिन का सिर कट गया और सूर्य का बिम्ब आकाश से गिर कर समुद्र में डूब मरा तब आकाशश्री भी पति का अनुगमन करने के लिये सती हो गई। और अपने अनुगमन को स्पष्ट रूप से बतलाने के लिये ही अपनी हड्डियों के टुकड़े ताराओं के बहाने आकाश में छोड़ गई।

सूर्यास्त होते किसने नहीं देखा ? पश्चिम दिशा की सयंकालीन अरुणिमा से भी सभी परिचित हैं पर उस दृश्य को देखकर इतनी सुन्दर कल्पना करना कवि मंखक का ही काम था। कवि बनना कुछ सरल कार्य नहीं। फिर छोटे मोटे कवि तो बहुतेरे पाये जाते हैं जिनकी वाक्चातुरी कुल कन्या के समान घर

के ही घेरे में गौरव प्राप्त हो। परन्तु ऐसे कवि बहुत कम ही हैं जिनकी रस प्राहिणी वाणी कला कुशल नृत्यांगना के समान सबके चित्त को अपनी ओर आकर्षित कर सके। एक कवि लिखता है :—

तया कवितया किं वा किं वा वनिता तथा ।

पद विन्यास मात्रेण मनो नापहतं यया ॥

वह कविता क्या जो वनिता की तरह पद विन्यासमात्र से ही मनों को आकर्षित न करे ? ऐसी सरस कविताओं की भी भाँकी लीजिये ! एक कवि शंकर से कहता है :—

दोषाकरः शिरसि ते ऽस्ति गले द्विजिह्वः ।

पाषाणजा सहचरी पशुरान्तरगः ।

दुःखं निवेदयति को ममदीन बन्धो !

त्वं चेत्त्रिलोचन निमीलित लोचनो ऽसिं ॥

आपके सिर पर दोषाकर (दोषों की खान और चन्द्रमा) है, गले में द्विजिह्व (चुगल खोर तथा सर्प है) आपकी जीवन साथिनी पाषाणजा (पर्वतकन्था और कठोर हृदयी) है, सेवक नन्दी पशु है। इस लिये हे प्रभु यदि आप भी आँखें बन्द करके बैठ जायेंगे तो हमारा दुःख कौन आपसे निवेदन करेगा ?

यहाँ द्विजिह्व, दोषाकर, पाषाणजा, तथा नन्दी शब्द द्व्यर्थक हैं। उसी से इसमें चमत्कार की सृष्टि हो रही है। एक और सुनिये कवि वृद्ध पर चुटकी लेता हुआ कहता है :—

अथः पश्यसि किं वृद्ध ? तव किं पतितं भुवि ?

रेरे मूर्ख न जानासि गतं तारुण्य मौक्तिकम् ॥

वृद्ध आदमी चला जा रहा है। विचारे की कमर झुक गई है। आँखें जमीन की ओर झुकी हैं। कवि पूछता है—हे वृद्ध ! नीचे

क्यों देख रहा है। क्या चीज ज़मीन पर गिर गई है तेरी ?
धृष्ट उत्तर देता है :— अय भूर्ख ! तुझे पता नहीं मेश तारुण्य रूपी
मोती खो गया है उसे ही ढूँढ़ रहा हूँ। एक और उक्ति सुनिये :—

रे रे घरट्ट ! मारोदीः कं कं न भ्रामयत्यमूः ।

कटाक्षवीक्षणादेव कराकृष्टस्य का कथा ?

चरखा चलता है तो उसमें घर घर का शब्द होता है उसपर कवि
चरखे से कहता है, हे चरखे ! क्यों रोता है ? मत रो। ये स्त्रियाँ
अपने तीक्ष्ण कटाक्षों से किस किस को चक्कर में नहीं डालतीं।
तुझे तो ये अपने हाथों से खींचती हैं अतः तू इनके चक्कर में
आकर घूमने लग जाय तो क्या आश्चर्य ?

एक बार राजा विक्रमादित्य को प्यास लगी। राजा तो कवि
थे ही पर सेवक भी कुछ कम न था। राजा साहिव ने सोचा
चलो आज सेवक की परीक्षा ली जाये। उन्होंने सेवक को
बुलाकर कहा —

स्वच्छं सज्जन चित्त वल्लघु तरंदी नार्तिवच्छीतलम् ।

पुत्रालिंगनवत्तथैव मधुर तद्वात्य संजल्पवत ।

एलोशीर लवंग चन्दन लसत् कर्पूर कस्तूरिका ।

जाती पाटलि केतकैः सुगन्धितं पानीय मानोयताम् ॥

हे सेवक मुझे प्यास लगी है और जल चाहिये। पर वह जल
कैसा होना चाहिये :— सज्जन के चित्त के समान स्वच्छ, दीनों
की पुकार की तरह हलका, पुत्र के आलिंगन के समान शीतल,
और बालकों की तोतली वाणी की तरह मधुर, लौंग, इलायची,
कर्पूर, कस्तूरी आदि से सुगन्धित इस प्रकार का पानी लाकर दो।

सेवक समझ गया कि आज मेरी परीक्षा हो रही है।

कहने लगा राजन् !

वक्त्राभोजे सरस्वत्यधिवसति सदा शोण एवाधरस्ते ।
बाहुः काकुत्स्थ वीर्य स्मृति करणपटुर्दक्षिणस्ते समुद्रः ।
वाहिन्याः पार्श्वमेताः कथमपि भवते नैवमुचन्त्यभीष्टां ।
स्वच्छे चित्ते कुतो ऽभुत्कथय नरपते ते ऽम्बुपानाभिलाषः॥

राजन् ! आपके मुख कमल में सदा सरस्वती का वास है ।
(सरस्वती नदी का भी नाम है) । आपके अधर तो शोण हैं ही ।
(सोनभद्र भी नदी है) । आपका बाहु श्रीराम के पराक्रम का
स्मरण करने वाला दक्षिण समुद्र है । (मुद्रिका-बाहुभूषण चिह्न
धारी है) । वाहिनी-सेनायें आपका साथ एक क्षण के लिये भी
नहीं छोड़तीं इस लिये हे नरेश आप ही बताइये कि जिनके
अन्दर सरस्वती, शोण तथा समुद्र समाये हुये हों उन्हें पानी
पीने की अभिलाषा कैसे उत्पन्न हो सकती है ? यहाँ सरस्वती
शोण, समुद्र शब्द श्लेषात्मक हैं । किस कुशलता से सेवक परीक्षा
में पार उतरा है यह देखते ही बनता है ।

समस्यापूर्ति करना भी योग्यता व कुशलता की निशानी
समझी जाती थी । अतः समस्यापूर्तियों बहुत प्रचलित थीं । एक
मजेदार कहानी है । राजा भोज ने एक नया महल बनवाया ।
उसमें रात को एक ब्रह्मराक्षस रहने लगा । जो कोई भी उस
महल में रात को जाता ब्रह्मराक्षस उसे पाणिनि के व्याकरण
सूत्रों की एक एक समस्या देता । उसका उत्तर ठीक न मिलने पर

वह उसे खूब सताता, किसी किसी को तो प्राणों से भी हाथ धोना पड़ता था। राजा भी परेशान था। कई तांत्रिक बुलाये गये पर कुछ न बन सका। इस तरह जब उपद्रव बढ़ते ही गये तो लोगों ने कालिदास से आग्रह किया कि आप ही उसे सीधा कीजिये। वे वहाँ एक रात रहने के लिये गये। राजस ने पहिले प्रहर समस्या दी:—‘सर्वस्य द्वे’। कालिदास ने कहा सुमति कुमति सम्पदापत्ति हेतू। दूसरे प्रहर दूसरी समस्या दी ‘वृद्धो यूना’। कालिदास ने कहा:— सह परिचयात् त्यज्यते कामिनीमिः। तीसरे प्रहर समस्या दी गई ‘एको गोत्रे’। उत्तर मिला सं भवति पुमान् यः कुटुम्बं विभर्ति। चौथे प्रहर की समस्या थी स्त्रीपुंवच्च’ उत्तर था— प्रभवति यदा तद्धि गेहं विनष्टम्। इसमें सर्वस्यद्वे वृद्धोयूना, एका गोत्रे, स्त्री पुंवच्च ये पाणिनी के चार सूत्र हैं। अष्टाध्यायी में इनके और ही अर्थ हैं। परन्तु कालिदास ने अपने मन्दाक्रान्ता वृत्त का आरम्भ बना कर उनका चमत्कार-पूर्ण अर्थ कर डाला। समस्याओं और पूर्तियों को मिलाकर पूरा श्लोक हुआ:—

सर्वस्य द्वे सुमति कुमती सम्पदापत्ति हेतू ।

वृद्धो यूना सह परिचयात् त्यज्यते कामिनीमिः ।

एको गोत्रे स भवति पुमान् यः कुटुम्बं विभर्ति ।

स्त्री पुंवच्च प्रभवति यदा तद्धि गेहं विनष्टम् ॥

सबकी संपत्ति और विपत्ति, सुख और दुःख के दो ही कारण होते हैं सुमति और कुमति। युवा पुरुष से परिचय हो जाने पर स्त्रियाँ वृद्ध को छोड़ देती हैं। कुल में वही एक पूज्य समझा जाता है जो सारे कुटुम्ब का पालन करता है। स्त्री यदि पुरुष के समान आचरण करने लगती है तो घर का सत्यानाश हो

जाता है। कहते हैं ब्रह्मराक्षस कालिदास की इस कुशलता पर इतना प्रसन्न हुआ कि हार मान ली और मकान छोड़ कर चला गया।

कालीदास शृङ्गारिक कवि थे। सुनते हैं उन्हें जो भी समस्या दी जाती थी उसकी पूर्ति में वे शृङ्गार रस का ही अवलम्बन करते थे। उनकी बुद्धि की परीक्षा के लिये सब पंडितों ने उनको एक आध्यात्मिक समस्या पूर्ति दी। समस्या थी 'अणोरणीयान् महतो महीयान्'। उपनिषदों में यह ईश्वर के लिये प्रयोग होता है कि वह सूक्ष्म से सूक्ष्म है और महान् से महान्। पर इसकी भी पूर्ति उन्होंने शृङ्गार परक करके पण्डितों को चकित कर दिया।

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं,

सखे गृहीत्वा शपथं करोमि।

यांगे वियोगे दिवसोङ्गनाया,

अणोरणीयान् महतो महीयान् ॥

सखे ! मैं इस परम पवित्र यज्ञोपवीत की शपथ खाकर कहता हूँ किसंयोग में—मिलन में स्त्रियों का दिन अणोरणीयान् छोटे से छोटा और वियोग में बड़े से बड़ा (महतो महीयान्) हो जाता है।

प्रेम क्या है ? विभिन्न आत्माओं का एकीकरण ही प्रेम है। विशुद्ध प्रेम विरोध नहीं प्राणी मात्र में सामन्तस्य स्थापित करता है। इस अमर प्रेम और आध्यात्मिक सौंदर्य के सिंचन से मानव हृदय का ऊँचा उठाना कुशल कवि का ही काम है। प्रेम के मिलन और विरह दो पहलू हैं। पर मिलन का माधुर्य विरह में ही अधिक गहरा हो पाता है। विरह की अग्नि में तप कर ही प्रेम उज्ज्वल बन पाता है। संस्कृत साहित्य में विप्रलम्भ शृङ्गार की कल्पनायें बहुत ही आकर्षक हैं। श्री हर्ष की कल्पना है :—

दहनजा न पृथुर्दवथु व्यथा,
 विरहजैव पृथुर्यदि नेदृशम् ।
 दहनमाशु विशन्ति कथं स्त्रियः
 प्रियमपासुमुपासितु मुद्धराः ।

अग्नि की जलन भी कोई जलन है । विरहग्नि की जलन ही असली जलन है । यदि ऐसा न होता तो भारतीय स्त्रियाँ किसी की भी परवाह किये बिना हंसते-हंसते कैसे अग्नि में प्रवेश कर जातीं ? विरह की अग्नि चाँद को देख कर मिलन की व्याकुलता के कारण ज्यादा ही प्रखर हो जाती है । यही कारण है कि विरह व्यथितों ने चाँद को खूब उपालंभ दिये हैं ? श्री हर्ष की कल्पना है :—

अयमयोगि बधूबध पातकैः ।
 भ्रमिमवाप्य दिवः खलुपात्यते ।
 शितिनिषादपदि स्फुटमुत्पतत्
 कणगणाधिक तारकिताम्बरः॥

इस चन्द्रमा ने अनेकों निर्दोष विरहणियों को मार कर इतना पाप कमाया है इसी लिये अमा की रात को यह रात्रि रूप पत्थर पर आकाश से पटका जाता है । पटकने पर टुकड़े टुकड़े हो जाने से जो कण आकाश में उड़ते हैं उन्हीं से आकाश तारकित हो उठता है । कृष्णपक्ष में आकाश में तारे ज्यादा दिखाई देते हैं इसका कितना अनोखा कारण श्री हर्ष जी को सूझ गया ।

एक और कल्पना है । विरह व्यथित व्यक्ति अपने अन्तकरण से पूछता है :—

भृशं वियोगानल तप्यमान ! किं
 विलीयसे न त्वमयोमयं यदि ।
 स्मरेषुभिर्मेघ ! न वज्रमप्यसि ।
 ब्रवीषि न स्वान्त ! कथं न दीर्य से ?

हे अन्तःकरण ! वियोगाग्नि से दग्ध होकर तू जल क्यों नहीं जाता ? यदि तू लोहे का है तो भी तुझे इस प्रचण्ड अग्नि में गल जाना चाहिये । यदि यह कहूँ कि तू लोहे का नहीं वज्र का है इस लिये अग्नि से नहीं गलता तो फिर तू कामवाणों से कैसे विध्र जाता है ? वज्र को तो वाण बंध नहीं सकते । फिर बता तू किन तत्वों से बना है जो इतनी प्रचल वेदना से भी फटने नहीं पाता ! आगे यही कवि कहता है ! मेरा एक २ क्षण एक २ युग के समान व्यतीत हो रहा है । कहाँ तक सहन करूँ ? मेरा प्रेमी मेरे अन्तर्हृदय को नहीं छोड़ता । मेरा प्राण मेरे शरीर को नहीं छोड़ता ? क्या दुःख परम्परा है ?

एक अन्य प्रेमी की कल्पना है :—

नपुंसकमिति ज्ञात्वा प्रियायै प्रेषितं मनः ।
 सोऽपि तत्रैव रमते हता पाणिनिनावयम् ॥

पाणिनि ने मन को नपुंसक माना है । हमने भी मन को नपुंसक समझ कर उसे प्रिया के पास भेज दिया पर वह मन तो वहाँ जाकर ऐसा रमा कि हम तो धोखे धोखे में ही मारे गये ? खूब ?

चाँदनी खिली हुई है प्रकृति निःस्तब्ध है । वियोगी हृदय की वेदना समेटे बैठा है । आकाश में चन्द्र पर दृष्टि पड़ी तो उसे प्रियतमा के चन्द्र कमल की भाँकी मिल गई । नदी के पानी में मछलियाँ दिखाई दीं तो उनमें प्राणप्रिया के आँखों की याद आ गई ।

शीतल मन्द समीर उसे प्रिया के शीतल श्वासों की स्मृति दिलाने लगे । कवि हृदय पुकार उठा :—

एकैव संगमे बाला, वियोगे तन्मयं जगत् ।

कृतोपकार एवाय वियोगः केन निन्द्यते ?

मिलने में तो केवल एक जगह ही प्रिया की मूर्ति नजर आती थी पर वियोग में सब ओर उसी की मूर्ति नजर आ रही है । प्रेम विभोर हृदय की कितनी सुन्दर भाँकी है ?

समे समासमो सा मे मास समा समा ।

योया तयातया याति या यात्यायामया तया ॥

प्रिया के साथ भेरे ३६५ दिन बीते मगर वे केवल एक दिन के समान प्रतीत हुए । लेकिन उसके वियोग में मैंने जो एक मास व्यतीत किया है वह पूरे एक वर्ष के समान प्रतीत हुआ ।

‘प्रकृति और पुरुष उस ‘कविर्मनीषी परिभूः’ के विश्वकाव्य के दो तार हैं । इन्हीं को बजाकर उसने लोकजीवन को नाना स्रोतों में प्रवाहित किया है—। इसी सम्पूर्ण लोक काव्य का लक्ष्य फिर उसी कविर्मनीषी में लय हो जाने का है । काव्य का आदिरस शृङ्गार है जिसकी परिपूर्णता भक्ति में है । ‘प्राणियों के बीच एक दिन हृदय का आकर्षण ही अनेकता में एकता का बोध कराने का प्रथम साधन हुआ था वही आकर्षण शृङ्गार के माधुर्य में घनीभूत हो गया ।’ शृङ्गार में विरह की भाँति जीवन में भी वेदना का स्थान अधिक गम्भीर है । सुख सौभाग्य में मस्त होकर तो हृदय प्रायः मौन हो जाता है लेकिन वेदना से व्यथित होने पर प्रेमी की आत्मा कवीन्द्र रवीन्द्र के शब्दों में बोल उठती है :—

वांशरि ध्वनि तुइ अमिय गरलरे ?

हृदय विदारयि हृदय हरलरे ?

संस्कृत काव्य भी प्रेम के इस चरम संगीत से आत प्रीत हैं मेघदूत क्या है ? वियोग के महासागर को लाँच कर दो आत्माओं के महासंमिलन के लिये तड़पते हुये यक्ष के अन्तर्हृदय की भाँकी ही तो है न ?

तां चावश्यं दिवसगणनातात्परामेकपत्नी

मव्यापन्नामविहतगतिर्द्रक्ष्यसि आतृजायाम् ।

आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यंगनानां

सद्यःपाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि ॥

८१०
सु ८ सं

यक्ष मेघ से कहता है कि मेरी पत्नी भी मेरी तरह ही विरह में तड़प रही होगी । दिन गिन गिन कर मिलन की आशा में जैसे तैसे जीवन बिता रही होगी । स्त्री का हृदय तो फूल की तरह होता है । सद्यःपति—जल्दी ही मुरझा जाता है । पर मेरे पुनर्मिलन की आशा ही है जो उसे नष्ट होने से बचाये हुये है । सारा मेघदूत ही विरही की हृत्तन्त्री की झंकार से झंकृत है । कौन है ऐसा सहृदय जिसका हृदय इसे पढ़कर द्रवित न हो उठेगा ? विरही यक्ष के द्वारा यक्षिणी के पास भेजा गया सन्देश कितना मार्मिक है ?

संस्कृत काव्य में प्रकृति का वर्णन आलम्बन और उदीपन दोनों रूपों में किया गया है । कुमार संभव के तृतीय सर्ग के वसन्त वर्णन में आलम्बन तथा उदीपन पक्ष का बहुत ही सुन्दर चित्रण है । अज विलाप, रति विलाप कालिदास के ऐसे करुण चित्रण हैं कि अपि प्रावा रोदिति अपिद्रवति वज्रस्य हृदयं । पत्थर भी रो उठते हैं और वज्र हृदय भी द्रवित हो जाते हैं । अज विलाप करता है :—

गृहणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललितेकलाविधौ ।
करुणा विमुखेन मृत्युना हरतात्वां वद किं न मे हतम् ?

हाय, जिस इन्दुमती ने जीवन को माधुर्य रस से सिंचित कर रखा था, जो मेरी गृहणी; मन्त्री; सखी, ललित कलाओं में प्रिय शिष्यायानी सर्वस्य थी उसका हरण करके क्रूर मृत्यु ने मेरा क्या नहीं हरण किया ? कामदेव के भस्म होने पर रति विलाप करती है :—

शशिना सह याति कौमुदी, सह मेघेन तडित् प्रलीयते ।
प्रमदाः पतिवर्त्मगा इति प्रतिपन्नं हि विचेतनैरपि ॥

चन्द्रमा की प्रिया ज्योत्स्ना उसके अस्त होते ही प्रकाश से ओझल हो जाती है, मेघ के नभामण्डल से विलीन होने के साथ ही साथ उसकी सहचरी बिजली भी लुप्त हो जाती है जब जड़ जगत् में 'स्त्रियाँ पति के मार्ग का अनुसरण करती हैं' यह सिद्धान्त चरितार्थ होता है तो चेतन जगत् में चेतना सम्पन्न रति भला अपने जीवन-सहचर का साथ कैसे छोड़ सकती है ?

प्राकृतिक दृश्य काव्य में चित्रनिर्माण का काम करते हैं । काव्य को छन्द यदि संगीत-कला के समीप लेजाता है तो प्रकृति चित्रण उसे चित्रकला के समीप ले जाते हैं । इस प्रकार काव्य को संगीत के द्वारा सरसता और चित्र के द्वारा रूप प्राप्त होता है । अर्थ गौरव के कवि भारवि की कला सम्बन्धी स्थापना थी कि :—

स्फुटता पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थं गौरवम् ।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित् ॥

काव्य के पद प्रयोग में अस्पष्टता न हो । अर्थ गांभीर्य पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाये, वाणी के अर्थ में पुनरुक्ति न होने पावे, और अर्थ सामर्थ्य को कुचल न दिया जाये । भारवि की कविता इस कसौटी पर खरी उतरती है । यह ऊपर के श्लोक से पर्याप्त रूप से

स्पष्ट हो जाता है। एक और बानगी लीजिये। वीर रस का चित्रण है :—

मदसिक्त मुखैर्मृगाधिपः करिभिर्वर्तयते स्वयं हतैः ।

लघयन् खलु चेतसा जगन्नमहानिच्छति भूति मन्यतः ॥

भीम यह कभी नहीं चाहता कि उन्हें दुर्योधन की कृपा से राज्य मिल जाये। उनके मत में अपने प्रचण्ड तेज से सारे संसार को तुच्छ बनाने वाला व्यक्ति किसी दूसरे की कृपा से ऐश्वर्य प्राप्त करना नहीं चाहता। शेर अपने हाथ से मारे हुये मदसिक्त मस्तक वाले हाथियों से ही अपनी भूख मिटाता है।

अश्वघोष की कविता कला का भी रसपान कीजिये :—

तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष भायर्षानुरागः पुनराचकर्ष ।

सांऽनिश्चयान्नापि ययौ न तस्थौ तरंस्तरंगेष्विवराजहंसः ॥

बुद्ध का गौरव नन्द को एक ओर खींच रहा था, प्रिया का प्रेम दूसरी ओर। अनिश्चय के कारण तरंगों में तैरते हुये राजहंस की तरह न तो वह जा ही सका न ठहर ही सका। यहाँ नन्द की उपमा राजहंस से दी गई है। पर इसकी विशेषता है नन्द की मनोदशा तथा मन के अन्तर्द्वन्द का सजीव चित्रण।

‘भासो हासः’ के रूप में कविता कामिनी के हास माने जाने वाले भास की कला भी देखिये।

चल विलुलित मौलिः क्रोध ताम्रायताक्षी,

अमर मुख विदष्टां किंचिदुत्कृष्य मालाम् ।

असित तनु बिलम्बिस्रस्त वस्त्रानुकर्षी,

क्षितितलमवतीर्णः पारिवेषीव चन्द्रः ॥

देखो, ये बलराम चले जा रहे हैं। क्रोध के कारण इनकी लम्बी आँखें लाल हो गई हैं। सिर तेजी से हिल रहा है। गले में पड़ी माला की सुरभि से भौरे आस पास मण्डरा रहे हैं। भ्रमरों को हटाने के लिये उन्होंने माला को कुछ टेढ़ा सा कर लिया है। अपने नीले वस्त्र को जो जमीन पर लटक रहा है समेटते हुये आ रहे हैं ऐसा मालूम पड़ता है जैसे परिवेष से युक्त चन्द्रमा ही पृथ्वीतल पर उतर पड़ा हो। इसे पढ़कर ऐसा लगता है जैसे साक्षात् बलराम ही सामने खड़े हों ?

काष्ठादग्निर्जायते मध्यमानाद्,
भूमिस्तोयं खन्यमाना ददाति ।
सोत्साहानां नास्त्यसाध्यं नराणां,
मार्गारब्धाः सर्वयत्नाः फलन्ति ॥

लकड़ी के मन्थन करने पर अग्नि पैदा होती है। पृथ्वी के खोदे जाने पर ही जल प्राप्त होता है। उत्साही और परिश्रमी मनुष्यों के लिये संसार में कुछ भी असाध्य नहीं।

मृच्छकटिक के कवि शूद्रक को आकाश में छिटके बादल चित्रों के डिजाइन से प्रतीत होते हैं तथा काली रात्रि सौत की तरह जो ईर्ष्या से अन्धकार के द्वारा उसके मार्ग को रोकते हैं।

विशाखदत्त का मुद्राराक्षस नीति प्रधान नाटक है। इतनी ऊँची राजनीति है कि किस कुशलता से नन्द के पूर्ण वंश का उन्मूलन किया गया यह देख आश्चर्य चकित सा ही हो जाना पड़ता है। उसकी नीति का वर्णन करते हुये कवि कहता है :—

मुहुलक्ष्योद्भेदा मुहुरधिगमाभावगहना ।
मुहुः संपूर्णाङ्गी, मुहुरतिकृशा कार्यं वशतः ।

मुहुः अश्यद्वीजा मुहुरपि बहु प्रापितफले-
त्यहो चित्राकारा नियतिरिव नीतिर्नयविदः ।

चाणक्य इतना महान् राजनीतिज्ञ था कि उसके मित्र एवं शत्रु सभी उसकी नीति पर मुग्ध हैं । चाणक्य की राजनीति नियति की तरह चित्र विचित्र रूप वाली दिखाई देती है । कभी तो चाणक्य की नीति इतनी स्पष्ट होती है कि बच्चा भी समझ सके और कभी इतनी गहन बन जाती है कि सूक्ष्म बुद्धि भी उसे नहीं पकड़ पाती । कभी तो सम्पूर्ण अंगों से युक्त हो प्रकाशित होती है तो कभी क्षीणकाय हो जाती है । कभी कभी तो ऐसा प्रतीत होता है कि नीति असफल हो रही है मूल रूप से पर तुरन्त ही पूर्ण रूप से सफल दृष्टिगोचर होने लगती है । नियति, भाग्य की तरह चाणक्य की नीति भी तरह तरह के खेल दिखाती है और सबके लिये रहस्य ही बनी रहती है । उसे अपनी बुद्धि पर इतना भरोसा है कि वह चैलेंज करता है:—

एका केवलमर्थ साधन विधौ सेनाशतेभ्याधिका ।

नन्दोन्मूलन दृष्ट वीर्य महिमा बुद्धिस्तुमागान्मम ॥

वह कहता है कि बड़े से बड़ा कार्य-करने की क्षमता से युक्त है मेरी बुद्धि । उसके सामने बड़ी बड़ी सेनायें क्या कर सकती हैं । नन्द का उन्मूलन करने में मेरी बुद्धि का चमत्कार संसार ने देख लिया है ।

आस्वादित विरद शोणित शोण शोभां

संध्यारुणामिव कलां शशलांछेनस्य ।

जुंभा विदारित मुखस्य मुखात् स्फुरन्ती
कोहर्तुमिच्छति हरेः परिभूय दष्टाम् ॥

वह कौन है जो जंभाई लेते हुये शेर की दाढ़ को बलान्त खींचना चाहता है ? जो हाथी के खून को चखने के कारण लाल क्रान्ति से युक्त, ठीक उसी तरह हो गई जैसे संध्याकालीन चंद्रमा की क्रान्ति । कैसा सजीव वीर रस का चित्रण है ? कवि बताना चाहता है जैसे शेर के खुले हुये मुख से जबर्दस्ती उसकी दाढ़ खींचना मुश्किल है वैसे चाणक्य के शेर चन्द्रगुप्त से उसका राज्य छीनना भी कठिनतर है । मुद्राराक्षस तो वीररस के वर्णनों से भरा पड़ा है ।

भवभूति करुण रस का कवि है । आपकी स्थापना थी:-

एको रसः करुण एवं निमित्त भेदात्

आप प्रणय चित्रण के सफल कवि हैं । उत्तररामचरितम् के प्रथम अंक में दाम्पत्य प्रणय की सरलता देखते ही बनती है । राम सीता को अपने पिछले प्रणयी जीवन की सरस कहानी याद दिलाते हैं:-

किमपि किमपि मन्दं मन्दमासत्तियोगात् ।

अविरलित कपोलं जल्पतो रक्रमेण ॥

अशिशिल परिरंभ व्यापृतैकैक दोष्णो,

रविदितगतयामा रात्रिरेवं व्यरंसीत ॥

जनस्थान का चित्र देखकर राम के मस्तिष्क में पुरानी स्मृतियाँ चित्रवत् आती जाती हैं । यही वह स्थान है जहाँ राम और सीता

पर्णकुटी में निवास करते थे । प्रणयावेश में न जाने क्या क्या बातें होती थीं । जागते जागते प्रभात हो जाता था पर उनकी बातें पूरी न होती थीं । सीता वनवास के बाद सीता के वियोग में राम की दशा का क्या वर्णन किया जाये ? हृदय फटना चाहता है पर टुकड़े नहीं हो पाते । शरीर मूर्छित हो रहा है पर फिर भी चेतना लुप्त नहीं होती । हृदय में सीता-वियोग की जो अग्नि प्रज्वलित हो रही है वह शरीर को जलाती तो है पर भस्म नहीं होने देती । क्रूर विधाता मर्म-स्थल पर चोट तो करता है पर जीवन का अन्त नहीं होने देता । सीता के वियोग जनित वेदना का सहना तो मृत्यु से भी बढ़ कर दुःखदायी है ।

दलति हृदयं शोकोद्वेगः द्विधानतुभिद्यते ।

प्रहरति विधिर्मर्मच्छेदी न कुन्तति जीवितम् ॥

‘दण्डिनः पदलालित्यम्’ प्रसिद्ध है । श्री दण्डी कवि के प्रकृति वर्णन पर्याप्त सुन्दर हैं । सूर्योदय वर्णन की भांकी लीजिये । चिन्तयत्वेवमपि महार्णवोन्मग्न मार्तण्ड तुरगश्वा सरथावधूतेव व्यवर्तत त्रियामा ।

मैं सोच ही रहा था कि रात्रि व्यतीत हो गई जैसे समुद्र से निकलते हुये सूर्य रूपी घोड़े के श्वास वायु के वेग ने उसे एक ओर उड़ा दिया हो । सूर्य प्रकट हुआ । प्रातः का सूर्य मन्द तेज वाला इस लिये दृष्टिगोचर हो रहा था कि समुद्र के जल में निवास करने से उसका तेज ठण्डा पड़ गया था । यहाँ उत्प्रेक्षालंकार है । सूर्य रूपी घोड़े की साँस द्वारा रात्रि का उड़ जाना याने समाप्त होना सुन्दर सूझ है । महाकवि वाण की कादम्बरी में भी कवित्वकला के उदात्त रूप के दर्शन होते हैं ।

यस्मिंश्चि राजनि जित जगति पालयतिमही चित्र कर्मसु वर्ण
संकराः, छत्रेषु कनक दण्डाः न प्रजाना मासन् । कवि लिखता
है—शूद्रक राजा के राज्य में केवल चित्रों में वर्ण संकर
(रंगों का मिश्रण था प्रजाओं में नहीं) धर्म विरुद्ध विवाह न होने
से वर्ण संकर संताने उत्पन्न न होती थीं । छत्रों में ही कनकदण्ड
था प्रजा में नहीं । अर्थात् राज्यछत्र में ही सोने की डण्डी लगाई
जाती थी । अपराध के न करने के कारण प्रजा सुवर्ण का दण्ड
न पाती थी । वक्रता कुटिलता कामिनियों के कुन्तल केश कलाप में
थी प्रजा में नहीं । वाचालता मुखरता नूपुरों की झंकार में थी
प्रजा में नहीं ।

‘रस प्रवणता, कला सौंदर्य, वक्रोक्तिभय अभिव्यंजना
प्रणाली सानुप्रासिक समासांत पदावलि, दीपक, उमा और
स्वभावोक्ति की रुचिर योजना जिसके बीच बीच में श्लेश,
विरोधाभास और परिसंख्या को गूँथ दिया गया है वाण की शैली
की विशेषता है । वाण की कथा इतनी रसवती है कि वह स्वयं
ही पदशय्या से समन्वित हो जाती है और उसकी उक्तियाँ
कलामय तथा कोमल हैं । भावपक्ष तथा कलापक्ष का यह विचित्र
समन्वय देखकर सहृदय ठीक इसी तरह चमत्कृत हो जाता है जैसे
कलापूर्ण उक्ति का प्रयोग करने वाली कोमल नवोढ़ा के स्वयं ही रस
से पूर्ण होकर शय्या की ओर आने पर नायक का हृदय इस
लिये चमत्कृत हो जाता है कि वह अद्भुत रस का समावेश कर
देती है” । कवि वाण का संध्या वर्णन देखिये :—

“क्वापि विहृत्य दिवसावसाने लोहित तारका तपोवन धेनुशिव
कपिला परिवर्तमाना संध्या तपोधनैरदृश्यत । अचिर प्रोषिते

सवितरि शोक विधुरा कमल मुकुल कमण्डलु धारिणी हसपति
 दुकूल परिधाना मृणालधवल यज्ञोपवीतिनी मधुकरमण्डला-
 क्षवल्यमुदहन्ती कमलिनी दिनपति समागम व्रतमाचरत् । ।

तपोवन बासियों ने देखा कि दिन भर कहीं घूम घाम कर
 लाल तारों वाली रक्तिम संध्या, लाल पुतलियों वाली कपिला
 तपोवन धेनु की तरह लौट आई। कमलिनी अभी हाल में विदेश
 गये हुये सूर्य के वियोग से दुःखी होकर कमल की बन्द कली के
 कमण्डल को धारण करती हुई, हंसों के धौत वस्त्र को पहिने,
 मृणाल के श्वेत यज्ञोपवीत से सुशोभित होकर, भौरों के रुद्राक्ष
 का वलय पहिने कर मानों सूर्य के पुनर्मिलन के लिये तपस्या कर
 रही थी। सूर्य के तेजी से पश्चिम समुद्र में गिरने पर उछली हुई
 पानी की बूँदों की तरह आकाश ने नारायण को धारण किया।
 थोड़ी सी देर में सारे आकाश में तारे छिटक गये, मानो सिद्ध
 कन्याओं द्वारा संध्या पूजा के लिये पुष्प बिखेर दिये गये हों और
 क्षणभर में ही सारी सायंकालीन लालिमा इस तरह लुप्त हो गई
 मानो सूर्यास्त के समय दिये हुए मुनियों के अर्घ्य दान के जल से
 उसे धो दिया गया हो।

सायंकाल का यह वर्णन वाण के अनुपम प्रकृति वर्णनों में से
 एक है। इसमें केवल उषा, समासोक्ति और उत्प्रेक्षा आदि का
 आलंकारिक चमत्कार मात्र ही नहीं बल्कि संध्या का सांगोपाग
 वर्णन प्रस्तुत किया गया है। संध्या के लिये तपोवन धेनु की उपमा
 स्पृहणीय है। सूर्य के समुद्र में गिरने पर ऊपर उछले हुये छींटों के
 द्वारा वाण ने सायंकाल के समय छुटपुट दिखाई देने वाले तारों
 का संकेत किया है और सिद्धांगनाओं द्वारा फेंकी गई पुष्पांजलि
 से समस्त आकाश तरांकित होने की कल्पना की है। कमलिनी

को वियोगिनी नायिका बनाकर प्रियमिलन के लिये व्रत साधिका की कल्पना भी बहुत ही मौलिक है।

ऋतु वर्णन भी संस्कृत के कवियों का आकर्षण केन्द्र रहा है। जैसा कि पहले ही कहा गया है कि संस्कृत काव्य में प्रकृति का वर्णन आलम्बन और उदीपन दोनों रूपों में किया गया है। क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति, तदेव रूपं रमणीयतायाः। नवीनता में ही सौंदर्य है न। ऋतुयें भी प्रकृति को सदा नवीनता प्रदान करती हैं शायद इसी लिये ऋतु वर्णन कवियों का परम प्रिय विषय है। सौंदर्य की भावना मन का विषय है। 'प्रकृति का सौंदर्य हमारी कलात्मक दृष्टि का परिणाम है। क्रोशे के कथनानुसार प्रकृति उसी व्यक्ति के लिये सुन्दर है जो बसे कलाकार की दृष्टि से देखता है।.....प्रकृति कला की समता में मूर्ख है और मानव जब तक उसे बाणी नहीं देता वह मूर्क है। मिस्टर एस० अलेक्जेंडर का मन्तव्य है कि प्रकृति तभी सुन्दर लगती है जब हम उसे कलाकार की नजरों से देखते हैं। एक सीमा तक हम सभी कलाकार हैं। ऐसा नहीं कि साधारण व्यक्ति प्रकृति के सौंदर्य को देखता ही नहीं पर कवि और साधारण व्यक्ति के सौंदर्य दर्शन में मात्रा का भेद है। कलाकार में व्यापक और प्रत्यक्ष ग्रहण करने की शक्ति होने के कारण उसमें अभिव्यक्ति की प्रेरणा शक्ति भी होती है। आइये हम संस्कृत के कवियों के ऋतुवर्णन की भांकी लें :—

ग्रीष्म ऋतु की प्रचण्डता का वर्णन है :—

विशुष्क काण्ठाहतसीकराम्भसो गभस्तिभिर्भानुमतो ऽनुता
पिताः

प्रवृद्ध तृष्णोपहता जलार्थिनी न दन्तिनः केसरिणोऽपि
विभ्यति

ऋतुसंहार ११५

हाथी गर्मी से तड़प रहे हैं। उन्हें प्यास इतनी सता रही है कि सीकर का जल ग्रहण कर रहे हैं। पानी की खोज में घूमते हुए वे शेरों से भी नहीं डरते। कितना स्वभाविक चित्रण है।

वसन्त वर्णन की स्वभाविकता देखिये:—

गुरुणि वासांसि विहाय तूर्णं तनूनि लाक्षारसरंजितानि ।

सुगन्धिकालागुरुधूपितानि धत्तंगना काममदालसांगी ।

पुराने गर्म कपड़ों को फेंक कर कोई लाक्षारस से या कुंकुम के रंग से रंजित और सुगन्धित कालागुरु से सुवासित हल्की लाल साड़ियाँ पहनती हैं कोई २ कुसुम्भी दुकूल धारण करती है। कोई कानों में नवीन कर्णिकार के फूल तथा कुन्तल केश कलापों में अशोक फूल और वक्षःस्थल पर खिली हुई नवमल्लिका की माला धारण करती हैं। वसन्त काल में फूल चुनना उन दिनों एक अच्छा खासा मनोविनोद माना जाता था। इसे पुष्पावचयिका कहते थे। कहते हैं कि सुन्दरियों के मुख मदिरा से सिंचने पर जब बकुल फूलता था तब उसी के फूल को चुनकर यह उत्सव मनाया जाता था। सखियों के उपालम्भ वाक्यों और प्रिय हृदयों के उल्लसित विलास से कुसुमावचय का यह उत्सव भी कवियों का प्रिय विषय रहा है। वसन्त में प्रकृति का यौवन चरमसीमा पर होता है पर जब मनुष्य का मन बुझा हो तो वसन्त में भी आनन्द कहाँ। ऐसी परिस्थिति में तो कवि-हृदय से पुकार उठती है कि:—

सच है यौवन के सभी साज
है लुटा रहा ऋतुराज आज,
पर हम करील हैं दीन हीन,
जो रहे आज भी पात हीन,
फिर आवे या जावे वसन्त,
अपना यौवन तो हुआ अन्त ।

मनुष्य ही प्रधान है। उसी के लिये प्रकृति के सब शृंगार हैं।
संस्कृत के कवि इस महासत्य को समझते थे। कवि कहता है:—

सन्तु द्रुमाः किसलयोत्तर पत्र भाराः
प्राप्ते वसन्त समये कथमित्थमेव ।
न्यासैर्नवद्युतिमतोः पदयोस्तवेयं,
भूः पुष्पिता सुतनु पल्लवितेव भाति ॥

फूल तो बहुत खिलते हैं परन्तु पुष्पों और पल्लवों से सजी धरती
वह है जहाँ मनुष्य के चरण कमलों का संसर्ग है। जहाँ उसका
मन रूपी भ्रमर दिन रात मंडराया करता है।

आकम्पयन् कुसुमिताः सहकारशाखाः ।
विस्तारयन् परभतस्य वचांसि दिक्षु ।
वायुर्विवाति हृदयानि हरन्नराणां ।
नीहारपात विगमात् सुभगो वसन्ते ।

ऋतुसंहार ६-२२
वासन्ती हवा कुसुमित आमों की शाखाओं को कंपा रही है।

कोकिल की दर्दभरी कूक दसों दिशाओं में फैल रही है; शीतकालीन जड़ता से मुक्त मानव को वसन्त अपनी ओर आकर्षित कर रहा है। वर्षा के वर्णन भी बहुत ही मनोहर हैं।

ससीकराम्भोधरमत्तकुंजरस्तडित्पताकोऽशनि शब्द मर्दलः ।

समागतो राजवदुद्धतद्युतिर्धनागमः घनाघमः कानिजन

प्रियः प्रिय ।

ऋतुसंहार २-१

वर्षा ऋतु ठाठ बाट से राजरानी की तरह मस्ती से भरी चली आ रही है। पानी से भरे बादल रूपी मस्त हाथी उसकी सवारी है। आकाश में चमकती हुई विद्युत् उसकी कीर्त्तिपताका है। वज्र निर्घोष उसकी विजय दुंदभी है। इस प्रकार सभी का मन अपनी ओर आकृष्ट कर रही है।

शरत् की छटा भी देखिये:—

काशांशकाविकचपद्मनोजवक्त्रा, सोन्मादहंस नव नूपुर

नाद रम्या ।

आपक्वशालिरुचिरानतगात्रयष्टिः, प्राप्तः शरन्नव बधु

रिव रूपरम्या ।

ऋतुसंहार ३-१

काशपुष्पों की नई साड़ी पहिन कर, खिले हुये कमलों के मुख की सुन्दरता लिये, मस्त हंसों के कूजन रूपी नूपुरों से मनोहर बनी; फल के भार से झुकी हुई, पकी शाली की तरह चौवन भार से झुकी कोमल शरीर वाली शरत् नववधु सी आती दिखाई देती है।

आदि कवि बाल्मीकि का ऋतुवर्णन भी संस्कृत साहित्य में

बेजोड़ है। किष्कंधा काण्ड के वर्षाऋतु और शरद् ऋतु के वर्णन तो देखते ही बनते हैं। इतना सुन्दर चित्रण है कि जैसे सामने चित्र ही अङ्कित कर दिया गया हो। इसके १८ वें सर्ग का वर्णन है—वर्षाऋतु आरही है। कैसी ?

नवमास धृतं गर्भं, भास्करस्य गभस्तिभिः ।

पीत्वा रसं समुद्राणां, द्यौः प्रसूते रसायनम् ॥

एषाघर्मं परिक्लिष्टा, नववारि परिप्लुता ।

सौतेव शोक संतप्ता, मही वाष्पं विमुञ्चति ॥

वर्षाकाल कैसा मनोहर है। लम्बे चौड़े शरीर वाले काले काले बादल बड़े बड़े पर्वतों के समान प्रतीत हो रहे हैं। आकाश समुद्रों के जल को पी पी कर नौ मास तक गर्भ धारण करके मानों अब अमृत का सेवन कर रहा है। उसी से यह असंख्य वनस्पतियाँ और औषधियाँ उत्पन्न हो रही हैं। एक के ऊपर एक खड़े हुए बादलों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानों सूर्य तक पहुँचने के लिये प्रभु ने सीढ़ियाँ बना दी हों।

संध्यारागोत्थितैस्ताम्रैरन्तेष्वपि च पाण्डुभिः ।

स्निग्धैरभ्रपटच्छेदैः बद्धव्रणमिवाम्बरम् ॥

संध्या की लालिमा से लाल लाल तथा बीच बीच में सफेद बादल ऐसे लग रहे हैं मानों आकाश ने इन बादल रूपी वस्त्रों से अपने घाव पर पट्टी बाँधी हो। प्रचण्ड गर्मी से संतप्त पृथ्वी वर्षा के प्रवाह से पूरित होकर ऐसी प्रतीत होती है जैसे शोकसंतप्त जानकी राम के विरह से व्यथित होकर आँसू बहा रही हो।

मेघ कृष्णाजिनधराः, धारा यज्ञोपवीतिनः ।



मारुतापूरित गुहाः, प्राधीता इव पर्वताः ॥

कशाभिरिव हैमिभिर्विद्युद्विरभिताडितम् ।

अन्तस्तनित निर्घोषं सवेदनमिवाम्बरम् ॥

नीलमेघाश्रिता विद्युत्स्फुरन्ती प्रतिभाति मे ।

स्फुरन्ती रावणस्याङ्गे वैदेहीव तपस्विनी ॥

यह पर्वत तो ब्रह्मचारियों के समान प्रतीत हो रहे हैं। काले काले मेघ उनके मृगचर्म हैं। नदी नाले उनके यज्ञोपवीत हैं। गंभीर गर्जन उनके द्वारा की जाने वाली वेद मन्त्रों की ध्वनि है। यह बादल बारम्बार गरजते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है मानों बिजली के कोड़ों से प्रताड़ित होकर आकाश पीड़ा से कराह रहा हो। काजल के समान काले मेघों में चमकती हुई बिजली ऐसी दिखाई देती है मानो रावण की गोद में बैठी हुई पीतवसना जानकी हो। वर्षा ऋतु कितनी सुहावनी है। लाल लाल वीर वहूटियों से व्याप्त, नई नई घास से जड़ी हुई यह भूमि ऐसी प्रतीत होती है जैसे कोई नवयौवना स्त्री लाल लाल बेलवृटों वाली हरी साड़ी पहिने लेटी हुई हो। जंगलों में मोर नाच रहे हैं। कदम्बों की शाखायें फूलों के भार से झुकी जा रही हैं। सारी पृथ्वी हरी भरी हो रही है। नदियाँ बह रही हैं। भ्रमर कदम्ब के वृक्षों की शाखाओं पर लटकते हुए वृष्टि की बूंदों से प्रताड़ित हो ऐसे उड़ रहे हैं जैसे नटखट बालक अध्यापक से मार खाकर। उपमायें कितनी सजीव हैं। कवि को मानव हृदय का कितना गहरा अनुभव है।

कवि कहता है जल की बेगवती धाराओं से धुली पर्वत की चोटियों पर से उतरती हुई पहाड़ी नदियाँ इस प्रकार बिखर रही हैं मानो मोतियों की लड़ियाँ झड़ रही हों। बादलों से पर्वतों पर

होने वाली वर्षा ऐसी लगती है जैसे राजा का अभिषेक हो रहा हो। यह मेघ मालाओं से घिरा आकाश, कहीं श्वेत कहीं श्याम ऐसा दृष्टिगोचर हो रहा है मानो नील सागर में कहीं कहीं पर्वत खड़े हों।

आदि कवि वाल्मीकि का शरद वर्णन भी देखते ही बनता है।
वानगी लीजिये:—

अभिवृष्टा महामेघैर्निर्मलाश्चित्र सानवः ।

अनुलिप्ता इवाभान्ति गिरयश्चन्द्ररश्मिभिः ॥

नीलोत्पलदलश्यामाः श्यामी कृत्वा दिशो दश ।

विमदा इवमातङ्गा शान्तवेगा पयोधराः ॥

घोर गरजना करने वाले मेघ पर्वतों, बनों और नदियों को जलमय करके शान्त होगये। धारा प्रवाह वृष्टि से धोये हुए पर्वतों की चोटियाँ चन्द्रमा की किरणों से आलोकित हो रही हैं। चन्द्रमा, तारों और सूर्य की प्रभा से शरद काल की लक्ष्मी विलास कर रही है। शरद ऋतु की शोभा अब उन कमलों में विराज रही है जो अभी अभी खिले हैं। जो मोर वर्षा ऋतु में मस्त होकर नाचते थे अब उदास हैं। इन्होंने अपने चँवर रूपी भूषणों को त्याग दिया है और वियोगियों के समान अपनी प्रियाओं के ध्यान में मग्न हैं। सूर्य के प्रकाश में नीला आकाश तीक्ष्ण तलवार की नाई चमक रहा है। नदियों के वेग घट गये हैं और अपने मन्द प्रवाह से मानों प्राणियों को उपदेश देते हैं कि चार दिन के यौवन पर इतराना ठीक नहीं। शरद ऋतु युद्ध की ऋतु है। वह देखो साँड कैसे गौकों के समूह में गरज गरज कर दूसरे साँडों को युद्ध के लिये ललकार रहे हैं।

शरदी चन्द्रिका की छवि देखिये:—

रात्रिः शशाङ्कोदितसौम्य वक्ता ।
 तारागणोन्मीलित चारु नेत्रा ॥
 ज्योत्स्नांशुक प्रावरणा विभाति ।
 नारीव शुक्लांशुक संवृताङ्गी ॥

शरद् ऋतु की रात्रि सुन्दर रमणी के समान आकर्षक प्रतीत होती है। उदित हुआ पूर्ण चन्द्र ही उसका मुख है। तारागण उसके नेत्र हैं। चाँदनी ही उसकी सफेद साड़ी है। कितनी सुन्दर उपमा है।

सुप्तैक हंसं कुमुदैरुपेतं, महाहृदस्थं सलिलं विभाति ।
 घनैर्विमुक्तं निशिपूर्णचन्द्रं, तारागणाकीर्णमिवान्तरिक्षम् ॥

आकाश निर्मल है। पूर्ण चन्द्र उदित हो चुका है। अन्तरिक्ष तारागण से खचित है। यह दृश्य ऐसा प्रतीत होता है मानो बड़े तालाब में अनेकों कमल खिले हों और उनके बीच में राजहंस सो रहा हो। प्राकृतिक तालाब और अन्तरिक्ष की कितनी योग्य उपमा है।

वाल्मीकि ने प्रकृति का ज्यादातर उद्दीपन रूप लिया है। सीता के वियोग में प्रकृति का सौंदर्य उसके हृदय को और भी व्यथित करता है। वर्षा में जबकि सभी प्रेम-विभोर हैं उसकी प्रिया को कोई हर कर ले गया है। शरद् ऋतु भी उसके अन्तस्तल को बीधे डालती है। वसन्त ऋतु तो उसे आग के समान दग्ध कर कर रही है। राम कहते हैं हे लक्ष्मण ?

अयं वसन्तः सौमित्रे, नाना विहगनादितः ।
 सीतया विप्रहीणस्य, शोक संदीपनो मम ॥

मांहि शोक समाक्रान्तं, संतापयति मन्मथः ।

हृष्टं प्रवदमानश्च, समाह्वयति कोकिलः ॥

सीता वियोग में यह वसन्त मुझे आनन्दित न कर मेरे शोक को बढ़ा रहा है। कोयल की पुकार मेरे हृदय को व्यथित कर रही है।

स्वनन्तिपादपाश्वेमे ममानङ्ग प्रदीपकाः ।

अशोकस्तवकाङ्गाराः षट्पदस्वन निःस्वनः ॥

मांहि पल्लव ताम्रार्चिर्वसन्ताग्निः प्रधक्ष्यति ।

न हि तां सूक्ष्मपक्ष्माक्षीं सुकेशीं मृदुभाषिणीम् ॥

यह मधुमास रूपी अग्नि जिसके अशोक-स्तवक अंगारे हैं, भ्रमरों की गुंजार जिसका शब्द है, कोकिलायें जिसकी लपटें हैं मुझे निःसन्देह जलाकर खाक कर देगी। राम ज्यों ज्यों वसन्त की छटा देखते हैं उनकी विरहाग्नि बढ़ती ही जाती है। वे कहते हैं हाय ! यह ऋतु सीता को कितनी प्रिय थी। ये भ्रमर जो वायु-मण्डल में उड़ते हुए तिल मंजरी पर गुंजार कर रहे हैं, यह पम्पासर जो बाल सूर्य की कान्ति के समान कमलों से चारों ओर घिरा हुआ है, अहा ! कमल वायु के भोंकों से कैसे अठखेलियाँ कर रहे हैं ! यह सब मेरी सीता का कितना मनोरंजन करते थे। यह कमल दल सीता की आँखों की याद दिला रहे हैं। यह सुगन्धित वायु मेरी प्राण-प्रिया की श्वासों से मिलती जुलती है। पर्वतों के शिखर टेसुओं के असंख्य फूलों से मानो जल से रहे हैं। वायु नाना वृक्षों को स्पर्श करता हुआ कभी पर्वत की चोटियों पर कभी जल की तरंगों पर नृत्य कर रहा है। वासन्ती वायु से मस्त हुए भौरे, कभी खट्टे, कभी मीठे कभी तीखे फलों का रस ले

लेकर फूलों के मार्ग में समा रहे हैं। अपने आप झड़े हुए फूलों से लदी हुई पृथ्वी फूलों की सेज के समान शोभा दे रही है। फूल मानों ईर्ष्या से एक दूसरे से बड़ चढ़ कर खिल रहे हैं। लक्ष्मण देख मृग किस प्रकार मस्त होकर अपनी मृगियों के साथ रमण कर रहे हैं मैं अभाग सीता के वियोग में बनों की खाक छान रहा हूँ। उसने मेरे लिये राजमहलों का सुख छोड़ा पर मैं उसके लिये कुछ भी न कर सका। सच है 'सर्व प्रियं चास्तरे वसन्ते' वसन्त ऋतु में सभी पदार्थ आकर्षक प्रतीत होते हैं पर जब मनुष्य का मन ही व्यथित हो तो बाह्य जगत् का मनोहारी रूप भी काटने को दौड़ता है। ऊपर के वसन्त वर्णन में आदि कवि ने इस सत्य को सफल रूप से चित्रित किया है। परन्तु दुःख से क्या घबराना। दुःख के बाद सुख, वियोग के बाद संयोग यही तो प्रकृति का नियम है। दुःख से सभी घबराते हैं परन्तु हमारे कवि कहते हैं नहि सुखं दुःखैर्विना लभ्यते। दुःख उठाये बिना सुख कैसे मिल सकता है। दुःखेन साध्वी लभते सुखानि। साध्वी स्त्री कष्ट सहन करके ही सुख प्राप्त करती है। मृच्छकटिक का रचियिता लिखता है:—सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते। घनांधकारेष्विदीपदर्शनम्। दुःखों के बाद ही सुख की शोभा है जैसे घने अंधकार में ही दीप का प्रकाश प्रिय प्रतीत होता है।

धन को सभी चाहते हैं। पर धन पाकर किसे मद नहीं हो जाता। इसको दर्शाते हुए एक कवि लिखता है:—

हालाहलं नैव विषं, विषं रमा।

जनाः परं व्यत्ययमत्र मन्वते ॥

निपीय जागर्ति सुखेन तं शिवः।

स्पृशन्तिमां मुह्यति निद्रया हरिः ॥

जो लोग हालाहल को विष कहते हैं भूल करते हैं। हालाहल कदापि विष नहीं विष तो लक्ष्मी है। इसी लिये हालाहल को पीकर भी शंकर जी जीते जागते हैं और लक्ष्मी जी के स्पर्श मात्र से ही विष्णु मोह निद्रा को प्राप्त हो जाते हैं। रिश्वत पर चुटकी लीजिये:—

को न याति वशं लोके मुखं पिण्डेन पूरिते ।

मृदङ्गो मुखलेपेन करोति मधुर ध्वनिम् ॥

मुँह मीठा करने से कौन वश में नहीं हो जाता। देखिये न, निर्जीव मृदङ्ग के मुख पर लेप करने से वह भी मधुर आवाज करने लगता है।

प्रसिद्ध व्यक्तियों को पहचान की क्या जरूरत? इस विचार को लक्ष्य करके कवि कहता है:—

अनामास्वर्णमाधत्ते, न कनिष्ठा न मध्यमा ।

निजनाम प्रसिद्धानां, भूषणैः किं प्रयोजनम् ॥

अनामिका अंगुली ही अंगूठी पहनती है कनिष्ठा और मध्यमा नहीं। क्योंकि जिसका नाम प्रसिद्ध नहीं, जिसे कोई नहीं जानता उसे ही टीप टाप द्वारा अपने को प्रदर्शित करने की जरूरत रहती है। जो स्वयं ही प्रसिद्ध हैं उन्हें बाह्य आडम्बरों द्वारा अपना प्रदर्शन करने की क्या जरूरत?

संसार के विषय में दार्शनिकों की दो प्रकार की विचार धारा है। कुछ तो कहते हैं कि संसार नितान्त दुःखों का एक महासागर है। यहाँ तो कभी भूख, कभी व्याधि, कभी अभाव, कभी विरह कोई न कोई चिन्ता तो मन को संतप्त करती ही रहती है। कोई सुख भी तो चिरस्थायी नहीं जिससे मन को संतोष दिया जासके। धन नहीं है तो कमाने की चिन्ता। धन है तो उसे संभालने की फिक्र। मिलन है

तो वियोग की आशा में ही उसका सारा सुख किरकिरा हो जाता है। यौवन है तो बुढ़ापा आने की चिन्ता सताती रहती है। संस्कृत साहित्य में इस प्रकार के विचार भी खूब पाये जाते हैं। राजा भर्तृहरि जो बाद में महात्मा भर्तृहरि कहाये। उन्होंने तीन शतक लिखे हैं। शृंगार शतक, नीति शतक, वैराग्य शतक। जब राजा थे शृंगार में आपाद मस्तक डूबे हुये तब शृंगार शतक लिखा। पर जब ज्ञान की तीसरी आँख खुली और वह सब भोग, सुख सम्पत्ति एक माया जाल से प्रतीत होने लगे; हृदय अनन्त सत्य जो सदा अमर है, अक्षय्य है उसे पाने के लिये तड़प उठा उस समय आपकी अन्तरात्मा से आवाज उठी :—

आयुः कल्लोललोलं, कतिपय दिवस स्थायिनी यौवनश्री,

अर्थाः संकल्पकल्पा घनसमय तडिद्विभ्रमा भोगपूरा।

कण्ठाश्लेषोपगूढं तदपिच नचिरं यत्प्रियाभिः प्रणीतम्,

ब्रह्मण्यासक्तचित्तं भवतु भवभयाम्भोधिपारं तरीतुम् ॥

यदामेरुः श्रीमन्निपतति युगान्तानिलहतः,

समुद्राः शुष्यन्ति, प्रचुरनिकरग्राहनिलया।

धरा गच्छत्यन्तं, धरणिधर पादैरपिधृताः,

शरीरे का वार्ता, करि कलभ कर्णाग्रचपले ॥

जीवन एक तरंग के समान है। यौवनश्री कुछ दिनों की महमान मात्र है, धन-धान्य और अन्य भोग सामग्री बिजली की चमक के समान क्षणिक हैं, प्रियतमा का कण्ठाश्लेषोपगूढ प्रणय भी चिरस्थायी नहीं। युगान्त रूपी वायु के झोंको से मेरु पर्वत भी टूट कर गिर जाता है, इतने विशाल जलों के स्वामी समुद्र भी सूख

जाते हैं, धरणीधर के पाँवों से धारण की जाने पर भी पृथ्वी अन्त को प्राप्त होती है तो इस क्षणभंगुर शरीर की तो बात ही क्या ? उस अनन्त शक्ति के साथ एकतान होकर ही इस दुःखों के महासागर से पार उतरा जा सकता है ।

एक दूसरी भी विचार-धारा है । जो कहते हैं कि यदि संसार में दुःख है तो सुख भी तो कम नहीं । गुलाब में काँटा है तो सुगन्धि और सुन्दरता भी है जो मन और नेत्रों को आकर्षित करती है । अगर अंधकार है तो चन्द्रमा की शीतल किरणों का प्रकाश भी है । शैशव का भोलापन, यौवन की मस्ती क्या कम स्पृहणीय है ? बालक क्या बुढ़ापे के भय से मुसकाना खेलना छोड़ देते हैं, या युवा अपना अल्हड़ पन । सुख के लिये छोटे-मोटे दुःख तो उठाने ही पड़ते हैं । माता से पूछो कि सन्तानों के लाभ के सुख के सामने क्या प्रसव वेदना कुछ भी महत्त्व रखती है ? विद्याभ्यास के कष्टों से डर कर क्या पढ़ना छोड़ा जा सकता है ? धनोपार्जन में कठिनाई होगी इस लिये लक्ष्मी प्राप्ति का प्रयत्न ही छोड़ दिया जाये ? संसार में दुःख हैं पर वे सब सुख का संदेश लेकर आते हैं । रात्रि नव प्रभात के उदय का संदेश लेकर आती है, विरह, मिलन का । सुख वे ही पाते हैं जो इन क्षणिक दुःखों से घबराकर मैदान नहीं छोड़ते । संसार एक संग्राम है जिसमें वीराग्रणी ही विजयश्री का आलिङ्गन करते हैं । नानाश्रान्ताय श्रीरस्ति । आलसी, कायर, इसमें सफल नहीं हो सकते ।

दोनों प्रकार की विचार धारायें प्राचीन काल से ही चली आ रही हैं । पर सच तो यह है कि न संसार दुःख का आगार है न सुख का भण्डार । सुख दुःख तो हमारे अन्दर है बाहर नहीं । मन चंगा तो कठौती में गंगा ।

Happiness is within not without.

Come in, come in

Eternal glory thou shalt win.

जगद्गुरु शंकराचार्य से किसी ने प्रश्न किया:—जितं जगत् केन ? उन्होंने उत्तर दिया जितं मनो येन । जिसने मन पर विजय पा ली उसीने विश्व को विजय किया है । मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः । मन ही मनुष्यों के बन्ध और मोक्ष का कारण है । अस्तु । छान्दोग्य उपनिषद्कार लिखता है:—मनह्यात्मा, मनोहि-लोको, मनोहि ब्रह्म मन उपास्वेति । मन ही आत्मा है । मन ही संसार है, मन ही ब्रह्म है अतः मन की ही उपासना करो । हठयोग प्रदीपिका में एक बड़ा सुन्दर श्लोक है:—

चित्तायत्तं नृणां शुक्रं, शुक्रायत्तं च जीवितम् ।

तस्माच्छुक्रं मनश्चैव, रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥

मनुष्यों की जीवनशक्ति मन के ही अधीन है (यदि मन चंचल हुआ तो जीवन शक्ति के भी चलायमान होने का भय है । अतः मन की प्रयत्न पूर्वक रक्षा करनी चाहिये ।

भट्टहरि भी इसी स्वर में स्वर मिलाकर कहते हैं:—

आशानाम नदी मनोरथ जला तृष्णा तरंगाकुला ।

रागग्राहवती वितर्क विहगा, धैर्यद्रुमध्वंसिनी ॥

मोहावर्त्तसुदुस्तराति गहना, प्रोत्तुंगचिन्ता तटी ।

तस्याः पारगताविशुद्धमनसोनन्दन्तियोगीश्वराः ॥

मनुष्य आशा अभिलाषाओं का पुतला है । इसी अभिलाषा के जाल में फँसकर ही बंधन में पड़ता है । इसी का रूपक कवि ने बाँधा है

कि आशा नाम की नदी है जिसमें मनोरथ रूपी जल भरा हुआ है। इसमें तृष्णा रूपी तरंगें हैं तथा राग रूपी मगरमच्छ भरे हुए हैं। नाना प्रकार के तर्क वितर्क पक्षी हैं यह नदी इतनी शक्तिशालिनी है कि बड़े बड़े धैर्य रूपी वृक्षों को भी उखाड़ कर फेंक देती है। मोह इसके कठिन भँवर हैं चिन्ता रूपी इसके ऊँचे र तट हैं। इस नदी से पार होना अत्यन्त कठिन है। सिर्फ वे ही पार कर सकते हैं जिनका मन विशुद्ध है। वे ही इन आशा नदी के पार पहुँचकर परमानन्द का भोग कर सकते हैं।

वेद प्रभु का अमर काव्य है उसके लिये कहा गया है :—

पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति ।

यह काव्य न कभी जीर्ण होता है न मरता है। इसमें भी इतने ऊँचे दर्जे की कविता है जो वस्तुतः मनीषी है। मनो को आकर्षित करती है। भक्त का हृदय विह्वल है। अपने इष्टदेव से मिलने की तड़प उसके हृदय को चैन नहीं लेने देती। वह जानता है जीवन में उसने कई पाप किये हैं अतः साहस नहीं होता उसके सामने जाने का। पर मिलन की इतनी उत्सुकता है कि बिना दर्शन भी रहा नहीं जाता। वह पुकार उठता है :—

क्वस्य ते रुद्र मृडयाकुर्हस्तोऽस्ति भेषजो जलाशः ।

अपभर्त्ता रपसो दैवस्यामी नु मा वृषभ चक्षमीथाः ॥

ऋ० २-३३-७

हे आनन्द स्वरूप देव, आनन्द और वरदानों से भरा तेरा सुखमय हाथ कहाँ है? वह हाथ जो मेरे सब दुःखों की अचूक रामवाण औषधि है, जो अमृत की वृष्टि करने वाला है ऐसे हाथ का स्पर्श करने के लिये मैं व्याकुल हो रहा हूँ। आप नाराज हैं? देवता मैं आपकी नाराजगी न सह सकूँगा? अब क्षमा कर दो और अपने

आनन्द की अजस्र बूँदों से तृप्त होकर मुझे शान्ति प्राप्त कर लेने दो ।
आगे और निवेदन करता है :—

उत स्वया तन्वा संवदे तत्, कदान्वन्तर्वरुणे भुवानि ।
किं मे हव्यमहृणानो जुपेत, कदामृत्कीक सुमना अभिख्यम् ॥

ऋ० ७-८७-२

कब वह शुभ अवसर आयेगा जब मैं अपने देवता के साथ संवाद करूँगा । कब मैं प्रभु का अन्तरंग बनूँगा, कब वह प्रसन्न होकर मेरी भेंट स्वीकार करेगा, कब मैं निहाल होकर अपने इष्टदेव के दर्शन कर सकूँगा ?

पृच्छे तदनो वरुण दिदक्षपोऽमि चिकितुषोविपृच्छम् ।
समानमिन्मे कवयश्चिदाहुरयं ह तुभ्यं वरुणा हृणीते ॥

हे वरुण ! बता तो सही मेरा कौनसा ऐसा पाप है जिसके कारण मैं यहाँ बंधा पड़ा हूँ । मैं जिज्ञासु बनकर तेरे समीप आया हूँ । मैं पंडितों से पृच्छता हूँ तो वे कहते हैं कि वह वरुण सर्वश्रेष्ठ प्रभु ही तुझ पर रूढ़ है । फिर तू ही क्यों नहीं बताता कि मेरी खता क्या है । कैसा अधिकार-पूर्ण उपालम्भ है !

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः ।
यस्येमा प्रदिशो यस्य बाहु कस्मै देवाय हविषाविधेम ॥

ऋ० १०-१२१-४

जिसकी महिमा को ये हिमाच्छादित पर्वत कह रहे हैं, जिसकी महिमा को नदियों सहित समुद्र गा रहे हैं, ये सारी दिशाएँ जिसकी बाहुओं के समान हैं, वह महान प्रभु मेरा इष्ट देव है मैं उसी के चरणों में आत्म-समर्पण-पूर्वक उसकी आराधना करता हूँ ।

ओं स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव सचस्व नः स्वस्तये ।

ऋ० १-१-६

हम तुम्हें पिता मानते हैं फिर तुम हमें पुत्र की तरह क्यों नहीं समझते ! तुम्हारे और हमारे बीच यह ऊँची २ भेद की दीवारें क्योंकर ? पिता और पुत्र के मिलन में भी कभी कोई रुकावट होती है । तू हमारे लिये सूपायनोभव । ऐसा हो जा कि हम जब चाहें तेरे समीप आ सकें तेरी गोद में बैठकर अमर प्रेम का रसास्वादन कर सकें । संस्कृत साहित्य में अन्योक्तियों की भी खूब बहार है । अप्रगत प्रशंसा द्वारा नीति का उपदेश हृदय पर गहरा प्रभाव डालता है । कितने ही गुण हों पर यदि संगति अच्छी नहीं तो सब गुण बेकार हैं इस पर पण्डितराज जगन्नाथ कृत 'भामिनी विलास' में देखिये :—

सौरभ्य भुवन त्रयेऽपि विदितं, शैत्यं तु लोकोत्तरं

कीर्तिः किंच दिग्गङ्गनाङ्गणगता, किं त्वेतदेकं शृणु ।

सर्वानेव गुणानियं निगिरिति श्रीखण्ड ते सुन्दरा-

नुज्झन्ती खलु कोटरेषु गर लज्वालां द्विजिह्वावली ॥

हे श्रीखण्ड ! तेरी मधुर सुगन्ध तीनों लोकों में विख्यात है । तेरी शीतलता भी लोकोत्तर है । तेरी कीर्ति भी दिग्दिगन्त में व्यापक है । पर तुझ पर यह जो साँप लिपटे रहते हैं उन के मुख से निकलने वाली विष की ज्वाला तेरे सारे ही गुणों को निगल जाती है ।

नेता कौन ? जो राह दिखावे । न्याय करे । पर यदि नेता ही पथभ्रष्ट हो जावे तो क्या होगा ? इस पर हंस की अन्योक्ति से कवि कहता है :—

नीर क्षीर विवेके हंसालस्य त्वमेव तनुषेचेत्

विश्वस्मिन्नधुनान्यः कुलव्रतपालयिष्यति कः ?

अय राजहंस ! यदि तुम ही नीर क्षीर का विवेक करने में, सत् अस्त की परख करने में आलस्य करोगे तो इस संसार में और कौन है जो इस कुलव्रत का पालन करेगा ?

सज्जनों के साथ कोई कितना भी बुरा व्यवहार करे पर वे अपनी सज्जनता का कभी त्याग नहीं करते। इस को चन्दन की अन्योक्ति से कवि कहता है :—

पाटीर तव पटीयान् कः परिपाटीमिमामुरीकर्तुम् ।

यत्पिषतामपि नृणां पिष्टोऽपि तनोषि परिमलैः पुष्टिम् ॥

हे पाटीर ! हे चन्दन ! तेरे समान ऊँचा चरित्र किसका हो सकता है ? जो तुम्हें पीसते हैं बेरहमी से, उन्हें भी तू अपनी सुगन्धि से तृप्त करता है ।

सभी के दिन फिरते हैं। सुख के बाद दुःख, दिन के बाद रात होती है पर फिर दुःख के बाद सुख तथा रात के बाद दिन आता है इसे कवि कोयल की अन्योक्ति से कहता है :—

तावत् कोकिल विरसान् यापय दिवसान् वनान्तरे निवसन्

यावन् मिलदलिमालः कोऽपि रसालः समुल्लसति ॥

हे कोकिल ! इन नीरस दिनों को किसी अन्य वन में जाकर किसी तरह व्यतीत कर ले फिर कोई न कोई आम्र वृक्ष फल देगा ही इसी आशा में। इसी वन में सूखे वृक्षों को देख मन उद्विग्न करने से क्या लाभ ! अब किसी और वन में जाकर दिन व्यतीत कर। जब फिर से वन में हरियाली आयेगी, आम के वृक्षों पर भी बौर आयेगा और फल लगेंगे तब तेरे भी जीवन में फिर बहार आयेगी। अतः

निराश मत हो ।

कोई कितना भी नीच हो, छोटा हो कोई न कोई गुण उस में रहता ही है यही प्रभु की लीला है । इसको भ्रमर और कमल की अन्योक्ति से कवि कहता है :—

समुपागतवति दैवादवहेलां कृटज मधुकरे मागाः ।

मकरन्द तुन्दिलानामरविन्दानामय महामान्यः ॥

हे कोमल कली ! तेरी तरफ आने वाले भ्रमर को तू उपेक्षा की दृष्टि से मत देख । यह तो रस से भरे हुये कमलों का महामान्य है ।

नितरां नीचोऽस्मीति त्वं खेदं कूप मा कदापि कृथाः ।

अत्यन्त सरस हृदयो यतः परेषां गुण ग्रहीतासि ॥

हे कूप ! तू अत्यन्त नीच है इसके लिये दुःखी मत हो । तूने तो वह सरस हृदय पाया है जो किसी के पास नहीं । फिर तू तो दूसरों का गुणग्रहीता है । गुण के दो अर्थ हैं गुण तथा रस्सी । कुआँ सब की रस्सी का ग्रहण कर सबको अपने सरस जल से तृप्त करता है ।

अभिमान मनुष्य की उन्नति में एक बहुत बड़ी रुकावट है । जरा सा कुछ पा लिया कि अभिमान ने धर दवाया । धन का मद तो होता ही है जिसके लिये बिहारी कवि ने कहा है :—

कनक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय ।

एहि खाये बौराय जग एहि पाये बौराय ॥

कनक के दो अर्थ हैं सोना और धतूरा । कवि कहता है कि सोने में धतूरे से सौगुना नशा ज्यादा है । धतूरा तो खाकर नशा दिलाता है पर सोना तो पाते ही नशा हो जाता है । पाण्डित्य का मद भी सोने से कम नहीं । चार अक्षर पढ़ लिये कि अभिमान हो जाता है । इस का वर्णन श्रीभर्तृहरि जी बहुत ही सुन्दर शब्दों में करते हैं :—

यदा किञ्चिज्ज्ञो ऽ हं द्विप इव मदान्धः समभवम् ।
 तदा सर्वज्ञो ऽ स्मीत्य भवदवलितं मम मनः ॥
 यदा किञ्चित् किञ्चित् बुध जन सकाशादवगतम् ।
 तदा मूर्खो ऽ स्मीतिज्वर इव मदो मे व्यपगतः ॥

जब थोड़ा सा ज्ञान था तब तो द्विप की तरह मदान्ध हो गया ।
 और अपने आपको सर्वज्ञ समझ कर मन अभिमान से भर गया ।
 पर जब विद्वानों के चरणों में बैठकर कुछ २ ज्ञान प्राप्त हुआ तो
 पता चला कि मैं कितना अज्ञानी हूँ । और जैसे औषधि पाकर ज्वर
 उतर जाता है ऐसे ही विद्वानों के ज्ञानोपदेश से मेरा अभिमान का
 ज्वर भी उतर गया । विनय नम्रता बड़प्पन की निशानी है । शिक्षा
 मनुष्य को नम्र बनाती है शिक्षा पाकर मनुष्य अपनी कमजोरियों
 को अच्छी प्रकार समझने लगता है । वह यह भी जान जाता है कि
 नम्रता ही ऊँचा उठने का साधन है । इसका महाकवि कालीदास बड़े
 ही सुन्दर शब्दों में वर्णन करते हैं:—

मन्दः कवियशः प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम् ।

प्रांशु लभ्यं फले लोभादुद्धाहुरिव वामनः ॥

बड़े बड़े कवियों के यश की अभिलाषा रखने वाले मुझ मन्द बुद्धि
 का लोग वैसे ही उपहास करेंगे जैसे ऊँचे पेड़ पर लगे हुये फल को
 तोड़ने की इच्छा से हाथ उठाने वाले बौने का ।

स्वभाविकं विनीतत्वं तेषां विनय कर्मणाम् ।

मुमूर्च्छं सहजं तेजो हविषेव हविर्भुजाम् ॥

कुमारों की स्वभाविक नम्रता शिक्षा पाने से और भी बढ़ गई जैसे अग्नि
 का स्वभाविक तेज घृतादि डालने से और भी अधिक हो जाता है ।

वीर शत्रुघ्न ने जब लवणासुर का वध किया तो ऋषिगण उसकी प्रशंसा करने लगे उस दृश्य को कवि कालीदास चित्रित करते हुये कहते हैं:—

तस्य संस्तूयमानस्य चरितार्थैस्तपस्विभिः ।

शुशुभे विक्रमो दानं व्रीडया विनतं शिरः ॥

जब ऋषिगण शत्रुघ्न की प्रशंसा करने लगे तो उनका सिर प्रताप से ऊँचा था, नम्रता से नीचा होकर शोभित हुआ ।

वयोरूपं विभूती नामेकैकं मद कारणम् ।

तानितस्मिन्समस्तानि न तस्योत्तिषिचेमनः ॥

योवन, रूप, ऐश्वर्य इनमें से कोई एक भी मद का कारण होता है पर उसमें ये सब गुण थे फिर भी उसे अभिमान न हुआ । अनुत्सेकः खलुविक्रमालंकारः । नम्रता ही वीरों का भूषण है ।

धन कौन नहीं चाहता । सभी धनार्जन करना चाहते हैं । संस्कृत के कवि भी धन को बहुत महत्त्व की वस्तु समझते थे । परन्तु धन कमाने का लक्ष्य बहुत ऊँचा था ।

कालिदास कहते हैं:—त्यागाय संभूतार्थानाम् । रघुवंशी लोग त्याग के लिये ही संग्रह करते थे । अगृध्नुराददे सोऽर्थम् । दिलीप लाभ रहित होकर धन ग्रहण करता था । मेघदूत में भी कवि एक जगह कहता है:—

आपन्नार्तिं प्रशमनफलो संपदो ह्युत्तमानाम् ॥

सज्जन जन धन इसी लिये पैदा करते हैं जिससे दीनों के दुःखों का निवारण कर सकें ।

परिवार की दीवार कर्तव्य और प्रेम का सीमेन्ट और चूना और राख का रस पाकर ही सुदृढ़ और चिरस्थायिनी बनती है। परिवार ही वह इकाई है जिसकी सुखशान्ति व दृढ़ता से ही समाज और राष्ट्र में सुख शान्ति रह सकती है। संस्कृत साहित्य में मातृ-प्रेम, भ्रातृ प्रेम, पितृ प्रेम, पति प्रेम, पत्नी प्रेम सभी के आकर्षक चित्रण हैं। सबकी भाँकी यहाँ दिलाना मुझे अभिप्रेत नहीं पर दो तीन का अङ्कन किये बिना रहा भी नहीं जाता। आर्य सभ्यता में पति पत्नी दोनों एक दूसरे के पूरक माने जाते हैं। उनका पारस्परिक प्रेम भी दो शरीर एक प्राण का सा ही होता है। जब दो शरीरों में एक ही प्राण बसते हैं तो वियोग कैसे सहन किया जा सकता है। कवि कहता है:—

शशिनं पुनरेतिशर्वरी, दयिता द्वन्द्वचरंपतत्रिणम् ।

इति तौ विरहान्तरक्षमौ, कथमत्यन्तगता न मां दहेः॥

रात्रि चन्द्रमा को फिर प्राप्त हो जाती है। चकवे को चकवी भी फिर मिल जाती है इसलिये वे दोनों वियोग को किसी भाँति सह लेते हैं किन्तु सदा के लिये तेरा वियोग मैं कैसे सहन करूँगा? यह अज का विलाप है जो इन्दुमती के वियोग पर उसके अन्तर्हृदय की पुकार ही कहा जा सकता है।

शिवजी ने काम को भस्म कर दिया इस पर रती के हृदय की स्थिति भी कितनी करुणाजनक है:—

मदनेन विना कृता रतिः, क्षणमात्रं किलजीवितेति मे ।

वचनीयमिदं व्यवस्थितं रमणत्वामनुयामि यद्यपि ॥

काम के बिना रती एक क्षण भी जिन्दा रही यह तो मेरे लिये जीवन भर के लिये अपवाद का विषय हो गया। अब चाहे मैं

उनका साथ देने के लिये चिता में भस्म भी हो जाऊँ फिर भी मेरा जलना भी इस कलंक को न धो सकेगा ।

इसी भाव को रघुवंश में भी देखिये :—

अथ रामं शिरश्छेद दर्शनोद्भ्रान्त चेतनाम् ।

सीतां मायेति शंसन्ती त्रिजटा समजीववत् ॥

कामं जीवति मे नाथ इति सा विजहौशुचम् ।

प्राङ् मत्वा सत्यमस्यान्तं जीवितास्मीति ॥

राक्षसियों ने राम का कटा हुआ सिर सीता को दिखा कर लज्जिता कहा कि अब तुम्हारा राम मर चुका है अब तो रावण का कहा मान जाओ । सीता ने राम का सिर देखा तो वह बेहोश होकर गिर पड़ी । त्रिजटा ने उसकी बेहोशी दूर करने के लिये उससे कहा कि 'यह माया है' तो उसकी बेहोशी दूर हुई । वह प्रसन्न तो हुई कि उसका पति जीवित है पर इस बात का उसे बहुत दुःख हुआ कि राम की मृत्यु का समाचार सुनकर भी वह जीवित कैसे रह सकी !

सीता निर्दोष थी पर उसके पति ने लोकापवाद के भय से उसे निर्वासित कर दिया । इतना बड़ा दुःख का पहाड़ सिर पर आ पड़ा पर फिर भी सीता कहती है:—

कल्याणबुद्धैरथवातवायं न कामचारो मयि शङ्कनीयः ।

समैव जन्मान्तर पातकानां, विस्पाकविस्फूर्जथुरप्रसह्यः ॥

तुमने अपनी इच्छा से मेरा त्याग किया ऐसा तो मैं सोच भी नहीं सकती । मेरे ही जन्म-जन्मान्तर के पापों का ही यह फल है इसमें आपका कुछ भी दोष नहीं । इसलिये मैं सूर्य की ओर दृष्टि लगाकर तपस्या करूँगी जिससे दूसरे जन्म में भी तुम्हीं मेरे स्वामी बनो और मेरा तुम्हारा कभी वियोग न हो ।

पति-प्रेम का इतना ऊँचा आदर्श विश्व के साहित्य में कहीं देखने को न मिलेगा। वैसे तो पुरुरवा का उर्वशी के प्रति, अज का इन्दुमति के प्रति प्रेम के वर्णन भी आकर्षक हैं। सीता-हरण के पश्चात् सीता की खोज में राम के करुण-विलाप, मेघदूत के यक्ष की अपनी पत्नी से मिलने की आशा में मेघ को दूत बना कर भेजे गये सन्देश भी हृदय-स्पर्शी हैं पर जो प्रेम नारी-हृदय कर सकता है, नारी के प्रेम में जितनी गहराई, जितनी स्थिरता व जितनी ऊँचाई हो सकती है वह अन्यत्र कहाँ। हाँ माता पिता का अपनी संतान के प्रति प्रेम है जो उतना ही पवित्र व उतना निष्काम व उतना ही तीव्र हो सकता है। कालिदास का वह वर्णन जिसके लिये किसी ने कहा है:—

काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला ।

तत्रापि च चतुर्थांको, तत्र श्लोक चतुष्टयम् ॥

काव्यों में नाटक सुन्दर है उन नाटकों में भी शकुन्तला नाटक सुन्दर है। शकुन्तला नाटक में उसका चौथा अङ्क सुन्दर है और चौथे अङ्क में भी चार श्लोक।

इतना मनोरम चित्र हम कैसे भूल सकते हैं।

कण्वमुनि विषय-वासना-शून्य और संसार-त्यागी सन्यासी हैं। भौतिक सुख और विषय-वासनाओं को उन्होंने ज्ञानपूर्वक ठोकर मारी है। वे त्यागी, वैरागी, साधु हैं। परन्तु उनका हृदय अनन्त स्नेह सागर में तैरता है। अभिज्ञान शकुन्तला के चौथे सर्ग में तो वह प्रेम सहस्रों धाराओं में प्रवाहित हो उठता है। तपोवन के सभी प्राणी जिसको प्रेम करते हैं, कुसुमलता,

माधवीलता, मृगशावक, सभी की जो प्रेमास्पदा है ऐसी शकुन्तला आज आरही है। कण्वमुनि प्रसन्न हैं कि उन्होंने अपनी पालिता कन्या के लिये मनचाहा वर पा लिया है पर विदाई की घड़ी आते ही उस गृहत्यागी मुनि का हृदय भी कण्ठ तक भर आता है।

यास्यत्यद्यशकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया,
अन्तर्वाष्प भरोपरोधिगदितः चिन्ता जडं दर्शनम् ।
वैक्लव्य मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः,
पीड्यन्तेगृहिणःकथं नु तनयाविश्लेष दुःखैर्नवैः?

आज शकुन्तला जायेगी इससे मेरा मन उदास है। आँसुओं के जोर के कारण गला रुँधा हुआ है। चिन्ता से दृष्टि भी जड़ सी हो गई है। जब मुझ जैसे तपस्वी को बेटी की विदाई इतना दुःख देती है तो गृहस्थियों का क्या हाल होता होगा।

कण्व योगी थे, गृह का जान बूझ कर त्याग किया था। पर उससे उनके हृदय के प्रेम में अन्तर कैसे आसकता था। जिसका हृदय प्रेममय है वह तो चाहे कहीं जाये प्रेममय ही रहेगा। पहिले गृहस्थी में प्रेम का क्षेत्र परिवार तक सीमित था तो मुनि बन कर तो वसुधैव कुटुम्बकम्-सारी वसुधा ही उसका परिवार बन गई। उसका प्रेम भी विश्व परिवार तक विस्तृत हो गया। उसे यह चिन्ता तो है कि शकुन्तला के चले जाने पर मेरा हृदय उदास होगा, इससे भी ज्यादा उसे यह चिन्ता है कि उसके चले जाने पर तपोवन के पशु, पक्षी, वृक्ष, लतायें सबसे बढ़ कर उसकी प्यारी सखियाँ क्या करेंगी? उस विश्वचिन्तक को तो सभी की चिन्ता है। इसी लिये शकुन्तला की सखियों

को वे कहते हैं:—वत्सौ भगिन्याः पन्थानं आदेशयत्रम् । वहिन को रास्ता दिखाओ । हे शारंगरव, शारद्वत, शोक करने से क्या फायदा । शकुन्तला को तो जाना ही पड़ेगा । हे गौतमी ! मन हलका करो । शकुन्तला को गृहस्थ धर्म का उपदेश दो । आश्रम के वृद्धों को कहते हैं:—

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषुयः ।

नादत्ते प्रिय मण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम् ॥

आदौ वः कुसुम प्रसूति समये यस्या भवत्युत्सवः ।

सेयं याति शकुन्तला पतिग्रहं सर्वैरनुज्ञायताम् ॥

तपोवन के वृद्धों ! जो शकुन्तला तुम्हें सींचे बिना कभी जल न पीती थी, शृंगार प्रिया न होने पर भी जो कभी पत्ता तक न तोड़ती थी तुम्हें कष्ट पहुँचेगा इस भय से । तुम्हारे पुष्पित होने के समय जो बड़ा समारोह करती थी ऐसी शकुन्तला आज पतिगृह जा रही है तुम सब इसे पुष्प वृष्टि द्वारा आशीर्वाद दो । कभी मृगछौनों को लक्ष्य कर कहते हैं:—

यस्य त्वया व्रणविरोपणमिङ्गुदीनां,

तैलं न्यापिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे ।

श्यामाक मुष्टि परिवर्धित को जहाति,

सोऽयं न पुत्र कृतकः पदवी मृगस्ते ॥

हे शकुन्तला ! जिसका मुँह दर्भ से चिरा हुआ देखकर तू अपने हाथ से हिंगोट का तेल लगाती थी, जिसे तूने श्यामाक धान खिला २ कर प्रेम से पाला है, जिसे तू पुत्र के समान प्यार करती थी वह मृग तेरा वियोग किस प्रकार सहन कर सकेगा ? कैसा हृदय-स्पर्शी प्रेम है ! एक निष्काम योगी जिसे संसार के पदार्थों में

कोई आकर्षण नहीं अपनी पालिता पुत्री के प्रेम में किस प्रकार विह्वल हो उठा है। उसका वियोग उसके लिये असह्य है। वत्से ! मामेवं जड़ी करोषि ! बेटी आज तूने मेरे हृदय को आन्दोलित कर दिया। आखिर यह कहकर अपने हृदय को मुनिराज सांत्वना देते हैं:—

अर्थो हि कन्यापरकीयएव, तामद्यसंप्रेष्यपरिग्रहीतुः ।
जातो ऽस्मि सद्यो विशदान्तरात्माचिरस्यनिक्षेप-
मिवार्पयित्वा ॥

कन्या पराया धन है। आज मैं भी इसे पतिगृह भेज कर इसी प्रकार निश्चिन्त हो जाऊँगा जैसे किसी की धरोहर को उसे वापस देने पर निश्चिन्तता आजाती है।

वैसे तो 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की सफल अभिव्यक्ति ही कवि का लक्ष्य है पर सत्य और शिव को भी सुन्दर बनाकर प्रस्तुत करना कुशल कलाकार का काम है। अन्धकार किसने नहीं देखा ? कवि भास उसका भी कितना आकर्षक वर्णन प्रस्तुत करते हैं:—

लम्पतीव तमोऽङ्गानि वपतीवाञ्जनं नभः ।
असत्पुरुष सेवेव दृष्टिः निष्फलतांगतः ॥

अन्धकार मानो शरीर से लिपटा सा जाता है। आकाश मानों काजल की वृष्टि कर रहा है, असत् पुरुष की सेवा की भांति दृष्टि निष्फल होगई है। अर्थात् इतना सघन अन्धकार है कि कुछ दिखाई नहीं पड़ता।

वसन्त सेना चारुदत्त के घर जाना चाहती है। मूसलाधार वर्षा हो रही है। चारों ओर घोर अन्धकार छाया हुआ है।

विजली कड़क रही है। बादल गरज रहे हैं:—वसन्त सेना कहती है:—

यदि गर्जति वारिधरो गर्जतु तन्नाम निष्ठुराः पुरुषः ।

अयि विद्युत् ! प्रमदानां त्वमपि दुःखं न जानासि ?

यदि बादल गरजता है तो गरजे, पुरुष तो स्वभाव से ही कठोर होते हैं, किन्तु ऐ विजली ! स्त्री होकर भी तू स्त्रियों के दर्द को नहीं जानती ? इस उपालम्भ को सुनकर विट कहता है देवि ! ऐसा न कहो:—

ऐरावतोरसि चलेव सुवर्णरज्जुः,

शैलस्य मूर्ध्नि निहितेव सिता पताका ।

आखण्डलस्य भवनोदर दीपिकेय,

माख्याति ते प्रियतमस्य हि सन्निवेशम्॥

ऐरावत के वत्तस्थल पर सोने की चंचल रस्सी के समान, पर्वत के शिखर पर प्रतिष्ठापित श्वेत पताका की तरह, इन्द्र के घर की दीपिका सी यह विजली तुम्हारे हृदय की पीड़ा को खूब पहिचानती है। इसी लिये चमक चमक कर तुम्हें तुम्हारे प्रियतम के घर का रास्ता बता रही है।

अन्धकार जैसी असुन्दर वस्तु का कितना सुन्दर वर्णन है। जब असुन्दर में सौंदर्योत्पत्ति की जा सकती है कवि प्रतिभा द्वारा, तो सुन्दर का चित्रण कितना अद्भुत व मनोहारि होगा ! सुन्दरता के अंकन के दृश्य तो हम संस्कृत कवियों के प्रभात, मध्याह्न, संध्या, रजनी, कौमुदी नक्षत्र खचित आकाश मण्डल, इन्द्र धनुष, विद्युत् घोष, मेघमाला, विकसित वृक्ष, पुष्पित पल्लवित लतायें, कल कल तरंगिनी सरितायें, फेन सहित झरने, शीतल मंद समीर, ऋतुयें,

कुञ्जवन, निविड अरण्य कामिनियों के नख शिख वर्णन, भ्रूभंग चितवन, अन्तर्हृदय के भावों के उतार चढ़ाव अट्टालिकायें, भवन, शहर, ग्राम सभी वर्णनों में प्राप्त कर सकते हैं। कवि की पैनी दृष्टि सौन्दर्य के दर्शन कर उनका सफल अंकन करने में कुशल है।

‘जब दिमाग देखता है और दिल लिखता है तभी सच्ची और असली कविता बनती है। वद कहता है कविमनीषी। कवि कौन ? जो मनीषी है। जनता के मनों का स्वामी है। यदि कविता पढ़ कर पाठक आत्म विभोर हो उठे, अपने को भूल जाये, कवि रोये तो श्रोता भी रो उठे, कवि हंसे तो श्रोता और पाठक भी हंस पड़ें, कवि दौड़े तो पाठक भी दौड़ें तभी समझना चाहिये सच्ची कविता है। कविता कवि हृदय की प्रतिध्वनि है। प्रवल प्रवाह है जो सामने वाले को मस्त कर अपने साथ बहा ले जाता है। कविता में यह शक्ति तभी उत्पन्न होती है जब कवि की आँखें दूरदर्शी हों। और कवि का दिल अन्तस्तल से लिखता हो। संस्कृत साहित्य इस प्रकार के उच्चकोटि के कवियों से पूर्ण रूप से समृद्ध है। उनकी पैनी दृष्टि से समाज का कोई कोना नहीं बचा। सभी अंगों का चित्रण किसी न किसी रूप में किया ही गया है। ऊँची से ऊँची राजनीति, ऊँचे से ऊँचे दार्शनिक विचार, अर्थनीति, समाजनीति सभी का दर्शन यहाँ प्राप्त हो जाता है। कालिदास की उपमाओं में ही संसार भरा पड़ा है। छोटी छोटी उपमाओं के द्वारा उच्चकोटि का संदेश देना उन जैसे रससिद्ध कवीश्वर का ही काम था। आदान ही विसर्गाय सतां वारि मुचामिव। सज्जन पुरुष त्याग के लिये ही भोग करते हैं जैसे बादल पृथ्वी को रस सिन्ध कराने के लिये ही पृथ्वी से जल खींचता है।

त्याज्या दुष्टः प्रियोप्यासीदंगुलीवोररक्षिता । दुष्ट चाहे

कितना प्रिय हो उसे छोड़ देना चाहिये जैसे सांप से कटी अंगुली
कितनी प्रिय है पर उसे काटना ही पड़ता है ।

उपप्लवाय लोकानां धूमकेतुरिवोत्थितः ।

हंसो हि क्षीरमादत्ते सन्मिश्र वज्रैर्न पयः ॥

इस प्रकार नीति, सदाचार लोक व्यवहार से युक्त उपमायें
कालिदास की कृतियों में जहाँ तहाँ बिखरी पड़ी हैं ।

जीवन के उपः काल में यह जगत् किसे सुन्दर नहीं लगता ?
सभी बालक पवन से क्रीड़ा करते हैं, मट्टी के घर बनाते हैं,
फूलों से प्यार करते हैं, चिड़ियों के चहचहाने पर मस्त होकर
उनका पीछा करते हैं, रंग विरंगी तितलियाँ उन्हें सुन्दर लगती
हैं, प्रकृति की हर चीज पशु पक्षी, लता वृक्ष सभी उन्हें आकर्षक
प्रतीत होते हैं परन्तु जीवन के मध्याह्न काल में हमारी दृष्टि में
प्रकृति का सौंदर्य नष्ट हो जाता है । पहिले वर्षा की नन्हीं २ बूंदों
में विहार करना भी हमारे खेल का ही एक प्रमुख अंग था अब
उससे बचने के लिये प्रयत्न होते हैं । मेकाले ने बहुत ठीक ही
कहा है 'ज्यों २ सभ्यता की वृद्धि होती है त्यों त्यों कवित्व का
हास होता जाता है । आज के युग में सभ्यता उन्नति की चरम
सीमा पर पहुँच चुकी है । ज्यों २ अणु, हायड्रोजन और स्पुटनिक
युग की सभ्यता बढ़ती जाती है त्यों २ भय और आशंकाओं में
जकड़े मानव का जीवन-रस सूखता सा चला जाता है । अब तो
कभी कभी पिकनिक (मनोरंजन यात्राओं) के समय ही दिल
की आँखें खोल हम प्रकृति के मनोहारी रूप को देख पाते
हैं । यांत्रिक युग के इस व्यस्त जीवन में फुरसत कहाँ कि अपने
साहित्य के संचित कोष की ओर भी दृष्टिपात कर सकें ।
कवि कहता है:—

किं वाणी ममैव सरसा यदि रंजयित्री ।
 न प्रार्थये रसविदामवधान दानम् ॥
 सायन्तनीषु मकरन्दवतीषु भृङ्गाः ।
 किमल्लिकासु परियंत्रणमारभन्ते ॥

यदि मेरी वाणी सरस और दूसरे के दिलों को खींचने की योग्यता रखती है तो रसिकजनों से प्रार्थना करने की कुछ भी आवश्यकता नहीं कि आप उसे पढ़िये या सुनिये । क्यों कि वे तो स्वयं ही उसका आदर करेंगे । भ्रमरों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिये क्या मकरन्द से पगी कलियों को कोई उपाय करना पड़ता है ? वे तो स्वयं ही दौड़ दौड़ कर उन पर दूट पड़ते हैं ।

संस्कृत कवियों की कविता भी इतनी सरस और इतनी आकर्षक है कि रसिक जन स्वयं ही उसकी ओर खिंचते चले आते हैं ।

मातर्भारतभूमि ! सर्वसुकृतस्याभूः प्रसूतिः पुरा ।

त्वन्नामाखिल विश्वविश्रुतमभूद्विद्याशोभिस्तदा ॥

यातास्ते दिवसास्तथासुखमयाः स्मृत्वाम्ब ! तान् सांप्रतम ।

हा ! हा ! कस्य न मानसंवद महाशोकाम्बुधौमज्जति ॥

हे मां ! भारती ! एक समय था जब तू सारे सुकृतों की जननी थी । विद्याविलास से तेरा नाम सारे संसार में फैला हुआ था । प्रभु करे भारत के शुभ दिन फिर शीघ्र ही आवें और फिर से हमारा भारत जगद्गुरु होने का गौरव प्राप्त कर सके ।

॥ इतिशुभम् ॥

ो
ो
क
ए
इ
ए

ो
ते

ो
।
ते

